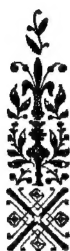
श्री

अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-२





सावयधम्मदोहा

भूमिका, अनुवाद, शब्दकोश, टिप्पनी आदि सहित

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम. ए., एल एल. बी.,
संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती;
भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी.

वीर निर्वाण संवत् २४५८] [विक्रम संवत् १९८९

THE

AMBADAS CHAWARE

DIGAMBARA JAINA GRANTHAMALA

OR

Karanja Jaina Series

Edited-

With the Cooperation of Various scholars



By—

Hiralal Jain, M A., L L. B.,
King Edward College, Amraoti.

Volume II.

Published by—

Karanja Jaina Publication Society,
Karanja, Berar, India.

Savayadhammadoha

An Apabhramsa work of the 10th century.

Critically edited

With Introduction, Translation, Glossary, Notes and Index

By

Hiralal Jain, M A., L L. B.,
Asstt Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti;
Sometime Research Scholar, Allahabad University.

1932.



एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥



प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ के दर्शन प्रथम वार मुझे सन् १९२४ में कारंजा के सेनगण भण्डार में हुए थे और उस प्रति पर से इस ग्रन्थ का परिचय सन् १९२६ में प्रकाशित Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in C. P. & Berar में दिया गया था। उस परिचय से कई विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित हुआ और उसे प्रकाशित कराने के लिये मुझ पर आग्रह होने लगा। किन्तु एक ही प्रति परसे इस का सम्पादन करने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे ठहरना पड़ा। अगले वर्ष इस ग्रन्थमाला की नींव डाली गई और तबसे ग्रन्थ की अन्य पोथियों की खोज में विशेषरूप से प्रयत्नशील होना पड़ा। सन् १९३० में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू. पी., के अध्यक्ष श्रीयुक्त डॉ. **ताराचन्दजी** एम.ए., डी. फिल, ने इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उस समय तक हमारे हाथ में इसकी उपर्युक्त एक ही वही प्रति थी और उसकी प्रथम कापी तैयार की जा रही थी इससे वह भेजी नहीं जा सकी। धीरे धीरे अन्य प्रतियों का पता चला और उसी अनुसार इसका संशोधन होता गया। अबतक हमें इसकी ग्यारह पोथियों का पता चला है जिनका परिचय 'संशोधन सामग्री' में कराया गया है।

पहले हमारा विचार ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के सदृश इसका सम्पादन भी अंग्रेजी में करने का था। किन्तु अनेक मित्रों व ग्रंथमाला के सहायकों का आग्रह हुआ कि अपभ्रंश भाषा के कुछ ग्रन्थ हिन्दी में भी सम्पादित होना चाहिये ता कि हिन्दी संसार में उक्त दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से झलक जावे। तदनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी में करने का निश्चय हुआ। आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों में भी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन करने का विचार है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमे हमारे मित्र श्रीयुक्त **ए.एन.उपाध्ये** एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर, से बहुत सहायता मिली है। उन्होंने द. प्रति प्राप्त होने के पूर्व मुझे उस प्रति की अपने लिये कराई हुई एक कापी देखने के लिये भेजने की कृपा की तथा पत्रों द्वारा भण्डारकर इन्स्टीट्यूट् पूना, की तीन पोथियोंका परिचय कराया। सन् १९३१ के Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute में आपका 'Joindu and his Apabhramsa Works' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। हमने उस लेख से भी सहायता ली है। ग्रन्थ के कुछ शंकास्पद वाक्यों को हमने आपके पास विचार के लिये भेजा था उनपर भी आपने पत्र द्वारा मत प्रकट करने की कृपा की। इसका हमने टिप्पनी में उपयोग किया है। इस सब सहायता के लिये हम आपका बहुत उपकार मानते है।

हमारे मित्र **डाक्टर पी. एल. वैद्य, एम्. ए., डी. लिट्.**, प्रोफेसर, वाडिया कालेज, पूना, ने भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना, की भ. प्रति हमारे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की। तदर्थ हम आपका आभार मानते हैं।

श्रीयुक्त **पन्नालालजी अग्रवाल**, सहायक मंत्री, जैनमित्रमण्डल दिल्ली, व श्रीयुक्त **महेन्द्रजी**, सम्पादक 'वीरसन्देश' आगरा, ने हमें क्रमशः द. और अ. प्रतियां भिजवाने की कृपा की। इसके लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

सुहृद्वर डॉ. **ताराचन्दजी गंगवाल**, एम. बी. बी. एस., पेलेस सर्जन, जयपुर, व श्रद्धेय मास्टर **मोतीलालजी संघी**, संस्थापक, सन्मति पुस्तकालय, जयपुर,ने हमें जयपुर की पोथियां देखने में बड़ी सहायता पहुंचाई। एतदर्थ हम आपके आभारी है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व ग्रन्थकर्ता का निर्णय करने में हमें क. प्रति से विशेष सहायता मिली है। इस प्रति के लिये हम भट्टारक महाराज **श्री वीरसेनजी स्वामी, सेन गण**, कारंजा के ऋणी हैं। इस ग्रन्थ-

माला को सफल बनाने में आप बहुत कुछ कारणीभूत हुए हैं जैसा कि हम प्रथम ग्रंथ की प्रस्तावना में कह चुके हैं।

मान्यवर **गोपाल अम्बादासजी चवरे**, कारंजा, इस ग्रन्थ-माला के जीवनाधार हैं। आपकी प्राचीन जैन साहित्य को उत्तम ढंग से प्रकाशित देखने की बड़ी उत्कण्ठा है। आपकी ही प्रेरणा से हमें इस कार्य में विशेष उत्साह हुआ है। आपका उपकार चिरस्मरणीय है।

सरस्वती प्रेस अमरावती, के मैनेजर श्रीयुक्त **टी. एम. पाटील** तथा प्रेस के अन्य कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ को छापने में बड़ी रुचि और सावधानी दिखाई है इसके लिये मै उन्हे हृदय से धन्यवाद देता हूं।

इस ग्रन्थमाला का प्रधान उद्देश्य प्राचीन जैन साहित्य को इस ढंग से प्रकाशित करने का है कि जिससे साहित्यिक छानबीन व ऐतिहासिक खोज में विशेष सहयता पहुंचे। यह हम माला के प्रथम ग्रन्थ में ही प्रकट कर चुके हैं। यदि उस उद्देश्य की प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा किसी अंश में पूर्ति हुई तो हम व हमारा मण्डल अपने प्रयास को सफल समझेंगे। उसी दिशा में किसी प्रकार की कमी व त्रुटि की पूर्ति के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् पाठक जो सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे उसका हार्दिक स्वागत किया जायगा।

किंग एडवर्ड कालेज,
अमरावती
अनन्त चतुर्दशी, वि. सं. १९८९.

हीरालाल

विषयसूची

भूमिका

१ संशोधन सामग्री।

अबतक सावयधम्मदोहा की प्राचीन हस्तलिखित नौ पोथियां हमारे देखने में व दो सुनने में आई है। इनमें से चुनी हुई चार पोथियों (अ क ज द) का अक्षरश मिलान करके प्रस्तुत संस्करण में उनके पाठ भेद अंकित किये गये हैं व शेष से यत्र तत्र सहायता ली गई है। इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

अ. प्रति मोतीकटरा, आगरा, के दिगम्बर जैन मंदिर की है। पत्र संख्या-१८; आकार ९$\frac{3}{4}$"×९", पंक्तियां प्रति पृष्ठ – ७ से ९ तक; वर्ण प्रतिपंक्ति-लगभग ३०; हासिया ऊपर नीचे- १", दांये बाँये १$\frac{1}{8}$"। प्रारम्भ का एक और अन्त के दो पत्र दूसरे हाथ के लिखे हुए है। अनुमानतः पहले पत्र बहुत जीर्ण होजाने से उनकी नकल करके ये पत्र जोड़ दिये गये हैं। जीर्ण पत्रों का अब पता नहीं है।

प्रारम्भ–ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

अंत–इति श्रावकाचारदोहडा जोगेन्द्रदेवकृत संपुर्ण ॥ सुभं भवतु ॥

इस प्रति मे कुल दोहों की संख्या २२५ है। अधिक दोहा परिशिष्ट में देखिये। १० वें दोहे के प्रथम चरण का पाठ कुछ भिन्न है [पाठभेदों में देखिये]। इसके पाठ क. प्रति से अधिक मिलते हैं।

क. प्रति कारंजा के सेनगणभंडार की है। पत्रसंख्या– १६, आकार– ११"×५", पंक्तियां प्रतिपृष्ठ– ९, वर्ण प्रतिपंक्ति– लगभग ३०, हाँसिया ऊपर नीचे–$\frac{3}{4}$", दांये बाँये– १"।

प्रारम्भ–ॐ नमः श्री पार्श्वनाथाय ह्रीं धरणेन्द्रपद्मावतीसहिताय

अन्त–इय दोहाबद्धवयधम्म देवसेनें उवदिट्ठ ।

लहुअक्खरमत्ताहीयमो पय सयण खमंतु ॥

इय दोहाबद्धसावयधम्मसम्मत्ते लिषितमिदं जगतकीर्तिण संवत् १७८० कुवार वदि १४ हृदयनग्रमध्यात् लिषितमिदं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २३५ है और एक संस्कृत श्लोक 'उक्तं च' रूप से उद्धृत किया गया है (परिशिष्ट देखिये)। इसके पाठ अ प्रति से अधिक मिलते हैं।

ज. प्रति जयपुर के तेरापंथी मंदिर की है। पत्रसंख्या– ११, आकार– १०$\frac{१}{२}$" × ४$\frac{१}{२}$", पंक्तियां प्रतिपृष्ठ– १३, वर्ण प्रति पंक्ति– लगभग ३५; हाँसिया ऊपर नीचे–$\frac{१}{२}$"; दाँये बाँये–१$\frac{१}{४}$".

प्रारम्भ– श्री जिनाय नमः ।

अन्त— इति श्रीश्रावकाचारदोहकं समाप्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २२३ है। दोहा नं २१९ नहीं है। नंबर देने में त्रुटि के कारण प्रति के अन्तिम दोहे पर नं २२१ आया है।

द. प्रति पंचायती दिगम्बर जैन मंदिर, देहली, की है। पत्रसंख्य १३; आकार–११$\frac{१}{२}$"×५"; पंक्तिया प्रतिपृष्ठ–९ से ११ तक, वर्ण प्रति-पंक्ति–लगभग ३२, हाँसिया ऊपर नीचे–$\frac{3}{४}$", दाँये बाँये– १" दोहों की संख्या २२४

प्रारम्भ– ॐ नमो वीतरागाय ।

अन्त–इति श्रावकाचारदोहक समाप्तम् ।

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री नृपविक्रमादित्यराज्ये संवत् १६०३ वर्षे। श्रावण वदि ११ शुक्रदिने। मृगशिरनक्षत्रे। व्याघात-

नामयोगे । मानस उपजोगे । श्रीपथासुभस्थाने । श्रीसाहि असलेमसाहिराज्यप्रवर्त्तमाने । श्रीजैनसंघे ब्रह्मदीप तत् शिष्यणी शीलतोयतरंगिणी बाई देवलालिखापितं आत्मार्थे । ज्ञानवान् ज्ञानदानेन इत्यादि चार श्लोक.

इस प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि यह प्रति विक्रम संवत् १६०३ तदनुसार सन् १५४६ ईस्वी में लिखी गई थी और उस समय दिल्ली के तख्त पर साह असलेमसाह (शेरशाह सूर का बेटा सलीमशाह सूर) था। यह उल्लेख मुगल व शूरवंश के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण है।

प. प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर की है। पत्र संख्या–१९; दोहों की संख्या– २२४. हाँसिये पर टिप्पण है।

अन्त– इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्रविरचित दोहकसूत्राणि समाप्तानि। स्वस्ति संवत् १५५५ वर्षे कार्तिक सु १५ सोमे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे बलात्कारगणेऽभयविद्यानंदिपट्टे मल्लिभूषण तत्शिष्य पं लक्ष्मणपठनार्थे दोहाश्रावकाचार।

यह प्रति वि सं १५५५ तदनुसार सन् १४९८ ईस्वी की लिखी हुई है। अतः प्राप्त पोथियों में जिनमें लिखने का समय पाया जाता है उन सब में प्राचीन है। दुर्भाग्य से इस प्रति का पूरा २ मिलान करने की मुझे सुविधा न मिल सकी।

प. २. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या– ११, दोहों की संख्या– २२४. लिखने का समय नहीं दिया गया।

प ३. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या– १४; दोहों की संख्या– २२७, लिखे जाने का समय– संवत् १६१२ वैसाख सु ११.

प. ४ यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या- ८; दोहों की संख्या- २२७, लिखे जाने का समय नहीं दिया है।

भ. प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, की नं. १३०८/ १८९१-९५ की है। पत्र संख्या- १००, आकार- $१०\frac{३}{४}''$ × ५"; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ-४; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग २८; हांसिया ऊपर नीचे- १", दांये बांये- $१\frac{१}{२}''$. इसमें दोहों की संख्या २२५ है। दोहा नं. २०० व २१९ नहीं हैं तथा तीन दोहे अधिक हैं [परिशिष्ट देखिये]। किन्तु नंबर देने में त्रुटि के कारण अन्तिम दोहे का नं. २२६ आया है। यह प्रति सटीक है। इसके पाठों व टीका का उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ की 'टिप्पनी' में किया गया है। टीका का विशेष परिचय आगे दिया जायगा।

प्रारम्भ- अथ प्राकृत दोधकबंध उपासकाचार लिख्यते।
अन्त- इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्दकृत समाप्तं। श्री।

मूलं योगीन्द्रदेवस्य लक्ष्मीचन्द्रस्य पंजिका।
वृत्ति प्रभाचन्द्रमुनेर्म्महती तत्त्वदीपिका ॥ १॥

भ. २. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। और संवत् १५९२ की लिखी हुई है। दोहों की संख्या २२४ है तथा ग्रंथ का नाम 'श्रावकाचार दोहडा' दिया गया है।

भ. ३. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। इसमें दोहों की संख्या २२४ है। १० वें दोहे का पाठ अ प्रति के समान है (पाठभेद देखिये)। वह संवत् १५९९ की लिखी हुई है।

अन्त- इति उपासकाचारे आचार्यलक्ष्मीचन्द्रविरचिते दोहक-
सूत्राणि समाप्तानि।

उपर्युक्त दोनों प्रतियां रत्नकीर्ति के शिष्य आर्य व ब्रह्म बहोडन के लिये लिखी गई हैं। वे उपर्युक्त इंस्टीट्यूट के नं. ९९२/१८८७-९१ के एक

ही गुटके में बंधी हुई हैं। इन प्रतियों को हमने नहीं देख पाया। उनका परिचय हमें हमारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, के एक पत्र से प्राप्त हुआ है।

२ ग्रन्थकर्ता

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ग्रन्थ के मूलभाग में कर्ता का कहीं, कोई, किसी प्रकार का भी उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु जिन हस्तलिखित प्रतियों का ऊपर परिचय दिया गया है उनमें से अनेक के अन्त में ग्रन्थसमाप्तिसूचक वाक्यों में ग्रन्थकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। हम यहां इन्हीं उल्लेखों की सूक्ष्म जांच कर सच्चे ग्रन्थकर्ता के पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

तीन पोथियों (प; भ; भ. ३.) में यह ग्रन्थ लक्ष्मीचन्द्रकृत या विरचित कहा गया है। विद्यानन्दि के शिष्य श्रुतसागर कृत षट्प्राभृत टीका में इस ग्रन्थ के आठ दोहे उद्धृत किये गये हैं और दो स्थानों पर उन दोहों के कर्ता स्पष्ट रूप से लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर कहे गये हैं– 'तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा', 'तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनो नाम एक ही व्यक्ति के द्योतक हैं। इससे भी उक्त प्रतियों के कथन की पुष्टि होती है। षट्प्राभृतटीका की प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में जो श्रुतसागर का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी उनके समसामयिक थे तथा उनकी गुरुपरम्परा इसप्रकार थी– विद्यानन्दि– मल्लिभूषण– लक्ष्मीचन्द्र। उनकी एक चेली ने आशाधर कृत 'महाभिषेकभाष्य' को अपने हाथ से लिखकर संवत् १५८२ में पूरा किया था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी ही प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता थे, तथा वे संवत् १५८२ के लगभग हुए हैं।

किन्तु भ प्रति में जो अन्तिम श्लोक है उससे इस कथन की सत्यता में सन्देह उपस्थित हो जाता है। इस श्लोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ

तीन नामों का सम्बन्ध बतलाया गया है-मूलग्रन्थकार योगीन्द्रदेव, पंजिका-कार लक्ष्मीचन्द्र और वृत्तिकार प्रभाचन्द्र मुनि। इसी कथन के साथ साथ प. प्रति के अन्तिम वाक्य पर विचार कीजिये। उस वाक्य में कहा गया है कि संवत् १५५५, कार्तिक सुदि १५, सोमवार को विद्यानन्दि के पट्ट पर अधिष्ठित मल्लिभूषण के शिष्य पं लक्ष्मण के पठनार्थ दोहकश्रावकाचार लिखा गया। हमारा अनुमान है कि लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्र का दीक्षित होने से पूर्व का नाम है और उन्ही की शिष्यावस्था में उनके पठनार्थ वह प्रति तैयार हुई थी। इससे निश्चय होगया कि लक्ष्मीचन्द्रजी इन दोहों के मूलकर्ता नहीं हैं। उनकी बनाई हुई 'पंजिका' कौनसी है इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। प. प्रति में जो 'लक्ष्मीचन्द्रविरचिते' वाक्य आगया उसी से पीछे के लिपिकारों ने तथा श्रुतसागरजी ने धोखा खाया। यथार्थ में वहां 'श्री लक्ष्मीचन्द्रलिखिते' या श्रीलक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' पाठ होना चाहिये था। लक्ष्मीचन्द्रकृत अन्य कोई संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश ग्रन्थ हमारे देखने सुनने में नहीं आया।

ग्रन्थकर्ता की खोज में अब हमारी दृष्टि योगीन्द्रदेव पर जाती है जो अ. और भ. प्रति में इस ग्रन्थ के कर्ता कहे गये हैं। योगीन्द्रदेव के अबतक चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है-परमात्मप्रकाश, योगसार, अमृताशीति और निजात्माष्टकम्। इनमें से प्रथम दो प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही अपभ्रंश दोहों में रचे गये हैं। तीसरा ग्रन्थ संस्कृत व चौथा प्राकृत में है। श्रीयुक्त उपाध्ये ने एक अंग्रेजी लेख में प्रस्तुत ग्रन्थ व परमात्मप्रकाश का मिलान कर यह मत प्रकट किया है कि इन दोनों की रचना में एक दो जगह साधारण साम्य को छोड़ कोई स्मरणीय सादृश्य नहीं है। हमने ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों को इसी हेतु से देखा। तीन ग्रन्थों मे से तो कोई सादृश्य नहीं मिला किन्तु परमात्मप्रकाश में निम्न लिखित उक्तियों पर दृष्टि अटकी। मिलान की सुविधा के लिये हम प्रस्तुत ग्रन्थ के अवतरणों के साथ साथ इन्हे यहां लिखते हैं —

परमात्मप्रकाश	सावयधम्मदोहा
८ भावें पणविवि पंचगुरु	१ पणवेप्पिणु भावेँ पंचगुरु
२०३ मरगउ जेण वियाणियउ तहिं कंचिं कउ गण्णु ।	२ जिम मरगउ कच्चेण
२१८ खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ डहंति ।	१०६ देउल लग्गिय खिल्लियइं किं ण पलोट्टइ मुक्खु ।
२२१ अत्थउ कहिं मि कुडिल्लियइं	११२ जाम ण देहकुडिल्लियइं
२३९ रूवि पयंगा सद्दि मिय ...	१२६ रूवासत्त पयंगडा ...
२४१ लोहइं लग्गिवि हुयवहइं पिक्खु पडंतउ तोडु ।	१३४ लोहमुक्कु सायरु तरइ पेक्खु परोहण तेम ।
२६८ मूलविणट्ठइं तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ।	४५ अह कंदलि उप्पाडियइं वेल्लिहे पत्त समत्त ।
२९२ तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु	१०० फुट्टिवि जाइ तडत्ति

अब प्रश्न यह है कि क्या अ. और भ. प्रति के कथन तथा उपर्युक्त सादृश्य पर से यह ग्रन्थ योगीन्द्रदेवकृत कहा जा सकता है ? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन सादृश्यों में हमें ऐसा एक भी नहीं दिखता जो आकस्मिक न हो सकता हो। फिर, भाषा को छोड़ कर जब हम विषय पर आते हैं तो योगीन्द्र के ज्ञात ग्रन्थों तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ा अन्तर मिलता है। योगीन्द्र यथार्थ नाम योगीन्द्र ही थे। उनके सब ग्रन्थ अध्यात्म तत्त्वों से ओतप्रोत हैं। उनका उपदेश आदि से अन्त तक यही है कि बाह्य क्रियाओं व आडम्बरों में कुछ तथ्य नही है। अपनी आत्मा में लीन होने से ही सच्चा सुख मिल सकता है। योगीन्द्र को सृष्टि आत्ममय दिखती थी। उनके विचार वेदान्तियों कैसे थे। वे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा के बहुत परे थे। उनके विचार से—

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥पर. २५७॥

कासु समाहि करउं को अंचउँ ।
छोपु अछोपु कारिवि को वंचउँ ॥
हल सह कलहि केण सम्माणउँ ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउँ ॥ योग. ३०. ॥

इन विचारों को लेकर यह संभव नहीं जान पड़ता कि उन्होंने दान, पूजा, उपवासादि के महत्व के प्रतिपादक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की होगी। यह हो सकता है कि उन्होंने योगीन्द्र होने से पूर्व गृहस्थावस्था में ही इस ग्रन्थ की रचना की हो। किन्तु एक तो इस ग्रन्थ में उनकी भावी अध्यात्मिकता के कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते। दूसरे कवित्व की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ योगीन्द्र के अन्य ग्रन्थों से अधिक प्रौढ जान पड़ता है। अत. एक ही ग्रन्थकार की कृति मानने पर उसे इन ग्रन्थों से पूर्व रचित कहना उपपन्न नहीं जँचता।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में हमें जो तीसरा संकेत मिलता है वह क. प्रति के अन्तिम दोहे में है। उसमें यह ग्रन्थ 'देवसेनें उवदिट्ठु' अर्थात् देवसेन द्वारा उपदिष्ट कहा गया है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों में देवसेन एक सुप्रसिद्ध प्राकृत कवि हुए हैं। उनके प्रकाशित ग्रन्थ दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र, आलाप पद्धति व भावसंग्रह- इस समय हमारे सन्मुख हैं। आलापपद्धति को छोड़ शेष सब ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचे गये हैं। दर्शनसार को छोड़ शेष सब माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ से साम्य की खोज में हमनें इन सब को देख डाला। भावसंग्रह में हमें हमारे ग्रन्थ से कुछ विशेष सादृश्यतायें मिली है। उन्हें हम यहां उध्दृत करते हैं-

सावयधम्मदोहा		भावसंग्रह	
२	जिह सभिलहिं सायर गयहिं दुल्लहु जूयहु रंधु । तिह जीवहं भवजलगयहं मणुयत्तणि संबंधु ॥	१६९	अहवा जइ कहव पुणो पावइ मणुयत्तणं च संसारे । जुयसमिला संजोए लहइ ण देसो कुलं आऊ ॥
२२	मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि ।	३५६	महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
८१	दंसण रहिय कुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ ।	५३३	कुच्छियपत्ते किं चि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरएसु ।
८२	हयगयसुणहहं दारियहं मिच्छादिट्ठिहिं भोय ।	५४४	केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।
८३	तं अपत्तु आगमि भणिउ णउ वयदंसणु जासु । णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जह ऊसरि कउ सासु ॥	५३२	ऊसरखित्ते बीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ । जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु णिर- त्थयं होइ ॥
८५	इक्कु वि तारइ भवजलहि बहुदायार सुपत्तु । सुपरोहणु एक्कु वि बहुय दीसइ पारहु णितु	५०९	जह णावा णिच्छिद्दा.... तारइ पारावारे....
		५१०	तह संसारसमुद्दे... तारेइ गुणाहियं पत्तं ।
१६१	इक्कछिद्दिय पाहणभरिय वुड्डइ णाव ण भंति	५४८	णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहिसलिलम्मि बोलेइ तह कुपत्तं संसार महोवही भीमे ॥

८६ दाणु कुपत्तहं दोसडइ
बोलिज्जइ णहु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं
दीसइ उत्तारंति ॥

५४७ पत्थरमया वि दोणी
पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं
संसारे चेव बोलेइ ॥

१५२ गमणट्ठियइं तरंडउ वि
अहव ण पावइ पारु ।

१८७ जह पाहाणतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणी तोए।
बुड्डइ विगयाधारो...

२२१ लोहकज्जि दुत्तरतरणि
णाव वियारिय तेण ।

५४९ लोहमए कुतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणीवाहे ।

८९ काइं बहुत्तइं संपयइं
जइ किविणहं घरि होइ ।

५५९ किविणेण संचयधणं
ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।

९२ जो घरि हुंतइं धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥

५१६ जो पुण हुंतइं धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहो छंडेइ ॥

९६ उत्तमाइं भोयावणिहिं

९७ घरि घरि दस कप्पयर जहिं
ते पूरहिं अहिलासु ।

५८७ पुण्णबलेणुववज्जइ
कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु।
भुंजेइ तत्थ भोए
दहकप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥
५९१ पायव दसप्पयारा
चिंतियं दिंति मणुयाणं ।

१३१ ण्हाणें सुज्झइ भंतिकउ
छित्तउ चंडालेण ।

१७ मण्णइ जलेण सुद्धिं
२० को इह जलेण सुज्झइ
२३ ण्हंता वि ते ण सुद्धा
२४ किं कुणइ तेसु ण्हाणं

१७० सुरुग्गमणि तलाउ

१८६ अह सरवरि णइसारिणइं
पाणिउ होइ अगाहु ।

१८३ जलधारा जिणपयगयउ
रयहं पणासइ णामु ।

३९२ जह गिरिणई तलाए
अणवरयं पविसए सलिल-
परिपुण्णं ।

३१९ गिरणिग्गउ णइवाहो
पविसइ सरम्मि जहाणवरयं ।

४७० पसमइ रयं असेसं
जिणपयकमलेसु दिण्ण जल-
धारा ।

इन अवतरणों में भाव, भाषा व उक्तिविशेष का सादृश्य विचारणीय है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों का साम्य भी उल्लेखनीय है—

कप्पड (सा. ५६, भा. ५७३), छंड या छडु (सा. ३९ आदि, भा. २११ आदि); तलाअ (सा. १७०, भा. ३९२); एवड्ड (सा. १७९, भा. ४१५); चडप्फड (सा. १२४,१५८, भा. ४५); तरंड (सा. १९२, भा. ५४९), कंज (सा. १२५, भा ४४९). ४१ वें दोहे का पुट्ठिमंस संभव है १७३ वीं गाथा के 'पिठर' का ही बोधक हो (देखो ४१ दोहे की टिप्पनी)।

यथार्थ में सावयधम्म के २२४ दोहे व भावसंग्रह की ३५० से ५९९ तक की २५० गाथाओं के विषय, भाव व भाषा में असाधारण सादृश्य है। कहीं एक ही विषय दोनो में एकही प्रकार से आया है, जैसे—

१. पात्र और दान का विवेक– सा. ७९ आदि, भा ४९७ आदि.

२. घृतादि सर्वरसाभिषेक – सा. १८१ आदि; भा. ४३८ आदि.

३. अष्टद्रव्यपूजा और फल – सा. १८४ आदि; भा. ४७१ आदि.

४. धर्म से स्वर्गादि सुख और मोक्ष–सा.१६२ आदि; भा. ४८४ आदि.

किसी किसी विषय का एक ग्रन्थ में उल्लेख मात्र तथा दूसरे में उसका पूरा विवरण मिलता है, जिससे ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के परिपूरक से ज्ञात होते हैं; जैसे—

१. अष्टमूलगुण व बारह व्रत का भावसंग्रह की ३५२ व ३५६ वीं गाथाओं में उल्लेख मात्र है। सावयधम्म के १० से ५२ तक के ४३ दोहों में इन्हीं का सविस्तर वर्णन है।

२. भावसंग्रह की ३७५ वीं गाथा मे तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्य का उल्लेख मात्र है। सावयधम्म में उन आठों का आठ दोहों (१७० – १७७) में काव्य की रीति से वर्णन है।

३. सावयधम्म के २१२ वें दोहे में सिद्धचक्र की स्थापना का बहुत सूक्ष्म उल्लेख है। इसी विषय का भावसंग्रह की ४४३ – ४५६ गाथाओं में बहुत विशद वर्णन है।

इस प्रकार इन दोनो ग्रन्थों में एक ही कर्ता का हाथ दिखाई देता है। विशेषतः सावयधम्म का जो ९३ वा दोहा भाव संग्रह के ५१६ नं. पर जैसा का तैसा पाया जाता है उससे इस विषय में बहुत कम सन्देह रह जाता है। भावसंग्रह जिन दो हस्तलिखित प्रतियों पर से छपाया गया है उनमें से एक प्रति में यह दोहा 'उक्तं च' रूपसे पाया गया है। किन्तु अधिक पुरानी प्रति में 'उक्तं च' शब्द नहीं है। यदि 'उक्तं च' शब्द मूल के ही मान लिये जाय तो इससे यही सिद्ध होता है कि सावयधम्म की रचना भावसंग्रह से पूर्व हो चुकी थी और कर्ता ने उस दोहे को यहां प्रसंगोपयोगी जान उध्दृत कर दिया। ऐसी द्विरुक्ति देवसेनजी के अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है। इसी भावसंग्रह में उनके दर्शनसार की अनेक गाथायें आई है। उक्त दोहे को पीछे का प्रक्षिप्त मानने का न तो कोई प्रमाण है और न कोई कारण।

एक और बात है जो प्रस्तुत ग्रन्थ को देवसेनकृत स्वीकार करने में सहायता पहुंचाती है। देवसेनकृत जिन ग्रन्थों का उल्लेख हम ऊपर कर

आये हैं उनमें एक 'नयचक्र' भी है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में यह लघु नयचक्र के नाम से छपा है और उसी के साथ एक और बृहत् नयचक्र छपा है जो माइल्लदेवकृत है। मिलान करने से ज्ञात हुआ है कि बृहत् नयचक्र में लघु नयचक्र पूरा गुंथा हुआ है। यदि हम पहले को दूसरे का परिवर्धित रूप या दूसरे को पहले का संक्षिप्तरूप कहें तो अनुचित न होगा। इस परिवर्धित रूप के अन्त में निम्न लिखित चार गाथायें पाई जाती हैं—

सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥ ४१८ ॥

सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं।
तं देवसेनदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥ ४२१ ॥

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
गाहाबंधेण पुणो रइयं माइल्लदेवेण ॥ ४२२ ॥

दुसमीरणेण पोयप्पेरिय संतं जह तिरं णट्ठं (?)।
सिरिदेवसेणमुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं ॥ ४२३ ॥

इन गाथाओं का अर्थ की दृष्टि से क्रम ठीक नहीं जान पड़ता तथा ४२३ वीं गाथा का पाठ कुछ भ्रष्ट है अतएव उसका भाव भी कुछ अस्पष्ट है। किन्तु मेरी समझ में इनका भाव यह आता है कि कोई प्राचीन नयचक्र अप्रसिद्ध होगया था उसका पुनरुद्धार करने की दृष्टि से देवसेन ने फिरसे उसकी रचना की *। यह रचना दोहाबंध में हुई जिसे सुनकर एक शुभंकर महाशय ने हँस दिया और कहा कि यह अर्थ इस छंद में नहीं सोहता, इसे गाथाबद्ध करो। तदनुसार उनके शिष्य माइल्लदेव ने उसे गाथाओं में परिवर्तित किया।

* देवसेनजी को प्राचीन रचनाओं की खोजकर उनके पुनरुद्धार की बड़ी रुचि थी। दर्शनसार में उन्होने स्पष्ट कहा है कि पुरानी गाथाओं का संचय करके ही उन्होने उस ग्रन्थ को रचा।

यदि उक्त गाथाओं का यही ठीक भावार्थ हो तो हमें उससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि दोहा छंद का आविष्कार उस समय संभवतः नया था और पंडित-मंडली में वह हेय दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी यह कि देवसेन को इस छंद में ग्रन्थरचना करने की रुचि थी। उनके भावसंग्रह में ही पांच पद्य अपभ्रंश भाषा के रड्डा छंद के पाये जाते हैं और शेष भाग में भी अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव दिखता है। नयचक्र का विषय पाण्डित्यपूर्ण न्याय था। अतः 'शुभंकर' के कुचक्र से उसका दोहाबद्ध रूप नष्ट कर दिया गया। किन्तु सावयधम्म साधारण गृहस्थों के लिये लिखा गया था इससे यह उस कुचक्र से बच गया।

सौभाग्य से देवसेनजी के समय व देश के सम्बन्ध में कोई अनिश्चय नहीं है। उन्होंने अपने दर्शनसार ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट रूप से कह रक्खा है कि उन्होंने उस ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत् ९९० की माघ सुदि १० वीं को समाप्त की। यथा—

'पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

धारा नगरी व मालवा प्रान्त में सदैव विक्रम संवत् का प्रचार रहा है तथा दर्शनसार में अन्यत्र जहां जहां संवत् का उल्लेख आया है वहां कर्ता ने स्पष्टत 'विक्कमकालस्स मरणपत्तस्स' ऐसा कहा है। इससे उपरोक्त संवत् के भी विक्रम संवत् होने में कोई सदेह को स्थान नहीं है। धारानगरी विद्वानों के जुटाव के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध ही रही है। प्राकृत भाषा का भी यहां अच्छा पठन होता रहा है। उपलब्ध प्राचीनतम प्राकृत कोष 'पाइयलच्छी- नाम- माला' की रचना भी जैन कवि धनपाल ने

विक्रम संवत् १०२९ में यहीं की थी व यहां के निवासी प्रभाचन्द्र पंडित ने विक्रम संवत् ११९२ के आसपास पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखे थे। (देखो णायकुमारचरिउ, भूमिका)।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत सावयधम्मदोहा के कर्ता देवसेन हैं, उसकी रचना विक्रम संवत् ९९० के लगभग मालवा प्रान्त की धारा नगरी में हुई है तथा यह प्रन्थ दोहा छंद का एक प्राचीनतम उदाहरण है।

२ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीकाटिप्पनी व परम्परा.

इस ग्रन्थ का विषय श्रावकों का धर्म व आचार है। इस विषय के जैन ग्रन्थों का नाम प्रायः श्रावकाचार व उपासकाचार ही रखा जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ अधिकांश पोथियों में 'श्रावकाचार दोहक' या 'उपासकाचार' कहा गया है। किन्तु मूल ग्रंथ में यह नाम कहीं नहीं पाया जाता। 'श्रावकाचार' शब्द तक मूल ग्रन्थ में कहीं नहीं आया। ग्रन्थ कर्ता ने प्रथम ही दोहे में इसे 'सावयधम्म' कहा है व अन्त में (२२२ वां दोहा) इसे 'धम्मधेणु संदोहयहं' 'दोहों की धर्मधेनु' कहा है। क. प्रति में ग्रन्थ का नाम 'दोहाबद्ध सावयधम्म' दिया गया है। यही नाम कर्ता को अभीष्ट ज्ञात होता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'सावयधम्म-दोहा' रक्खा गया है।

जान पड़ता है गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का कुछ अच्छा प्रचार रहा है, इसी से इसकी हस्तलिखित प्रतियां दिल्ली, आगरा, जयपुर, बरार व पूना में पाई गई हैं। कई प्राचीन लेखकों ने इसके सुंदर दोहे अपनी कृतियों में उध्दृत किये हैं। 'दोहा पाहुड*' में इसका एक दोहा (२१३) पाया जाता है। श्रुतसागर ने अपनी षट्प्राभृत टीका में इसके आठ दोहे (१०५, १०९-

---

* यह ग्रन्थ भी अपभ्रंश दोहों में है। इसे भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने का प्रबन्ध हो रहा है।

११२, १३९, १४८ और १५६) उध्दृत किये हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। ब्रह्म नेमिदत्त कृत प्रीतिंकरचरित में इसके दो दोहे (२८, ६७) पाये गये हैं। सूक्ष्म परिशीलन से और अनेक ग्रन्थ में इन दोहों के पाये जाने की सम्भावना है।

भ प्रति के अन्तिम श्लोक से हमें ज्ञात हुआ है कि इस ग्रंथ पर लक्ष्मीचन्द्र ने एक 'पंजिका' तथा प्रभाचन्द्रमुनि ने एक 'तत्त्वदीपिका' नामक 'वृत्ति' लिखी। किन्तु उस पोथी पर से यह नहीं ज्ञात हो सका कि उसपर की टीका इनमें से कौन सी है। उस प्रति के वेष्टन पर भण्डारकर इन्स्टीटयूट के कर्मचारियों ने 'दोधक श्रावकाचार लक्ष्मीचन्द्र की पंजिका सहित' ऐसा लिख रखा है जिससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में वही टीका लक्ष्मीचन्द्र कृत पंजिका है। इसके लिये उनका आधार उक्त श्लोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसके निर्णय के लिये और कोई प्रमाण न पा हमारा ध्यान 'पंजिका' व 'वृत्ति' के अर्थ व भेद पर जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने टीका व पंजिका की परिभाषा इस प्रकार की है '**टीका निरन्तरव्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका**' और इसकी टीका है 'सुगमानां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां सा टीका। विषमाण्येव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका'। इससे हमें ज्ञात हुआ कि लगातार व्याख्या का नाम टीका और केवल कठिन शब्दों की व्याख्या का नाम पञ्जिका है। हम 'वृत्ति' की भी कोई प्राचीन परिभाषा जानना चाहते थे किन्तु वह हमें फिर हाल कहीं मिली नहीं। पर 'वृत्ति' का हम यह अर्थ समझते आये हैं कि उसमें मूल का सरल शब्दों में अनुवाद दिया जाता है जिसे अंग्रेजी में paraphrase कह सकते हैं। भ. प्रति की टीका हमें इसी प्रकार की ज्ञात होती है। उसे हम उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पञ्जिका नहीं कह सकते। उसमें केवल विषम पदों की व्याख्या नहीं है किन्तु पूरे दोहे का सरलार्थ देने का प्रयत्न किया गया है। हमारा अनुमान है कि यह लक्ष्मीचंद्रजी की 'पञ्जिका' नहीं किन्तु प्रभाचन्द्रमुनि की 'महती तत्त्वदीपिका वृत्ति' है।

इस वृत्ति में अन्तिम सात दोहों का अर्थ नहीं समझाया गया। हमनें इस वृत्ति का उपयोग अपनी टिप्पनी में किया है। दो चार स्थानों पर इस वृत्ति से दोहों के अर्थ पर अच्छा प्रकाश पड़ा है और इसलिये हम इसके कर्ता का उपकार मानते हैं। किन्तु इस वृत्ति से कर्ता अपने लक्ष्य में कहां तक सफल हुए हैं यह टिप्पनी में स्थान स्थान पर उध्दृत अंशों से पाठकों को ज्ञात हो जावेगा। लेखक का साहस तो अवश्य प्रशंसनीय है किन्तु सत्य के नाते हमें कहना पड़ता है कि उनकी यह चेष्टा अधिकांश अनधिकार ही थी। उनके सन्मुख न तो मूल ग्रन्थ की शुद्ध कापी ही थी और न उनमें उसे शुद्ध कर सकने की शक्ति थी। वे अपभ्रंश भाषा के कुछ अच्छे जानकार ज्ञात नहीं होते। हां, विषय के जानकार अवश्य थे। उसी के सहारे बहुत कुछ अटकल पच्चू लिखते गये हैं। एकाध जगह तो उनका अटकल भी अटक गया (देखो दोहा नं. १३५ की टिप्पनी)। उनका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत अधूरा था। वे लिङ्ग, वचन, तिङन्त कृद्-न्तादि के सब नियमों के परे थे। हम यह ऐसी त्रुटियों पर से नही कह रहे हैं जो लिपिकारकृत हों। उनकी भाषा में ऐसी त्रुटियां हैं जो लिपिमात्र के प्रमाद से नहीं हो सकतीं। वे कवित्व से भी सर्वथा हीन थे। मूल की सुन्दर सुन्दर उपमाओं व सूक्तों पर उन्होने अपनी वृत्ति द्वारा पानी फेर दिया है। सारे ग्रन्थ में कठिनाई से दसबीस दोहे ऐसे होंगे जिनका पूरा भाव और शब्दार्थ उनकी वृत्ति में आगया हो। पूर्णतः शुद्ध संस्कृत तो शायद किसी एक दोहे की वृत्ति में भी न मिलेगी। पहले विचार हुआ था कि इन वृत्तियों के कुछ नमूने यहां उध्दृत किये जांय और इस हेतु कितने ही दोहों की वृत्तियां लिख भी डालीं थीं। किन्तु पीछे उन्हें अनावश्यक जान छोड दिया। इस वृत्ति के विषय में हमने जो बातें यहां कही है उनके यथेष्ट प्रमाण टिप्पनी में उध्दृत अंशों में ही पाठकों को मिल जांयगे।

ये वृत्तिकार कब कहां हुए इसके न तो कोई प्रमाण हमारे सन्मुख हैं और न इसकी कुछ जांच पडताल करने की इच्छा ही होती। हां, इतना

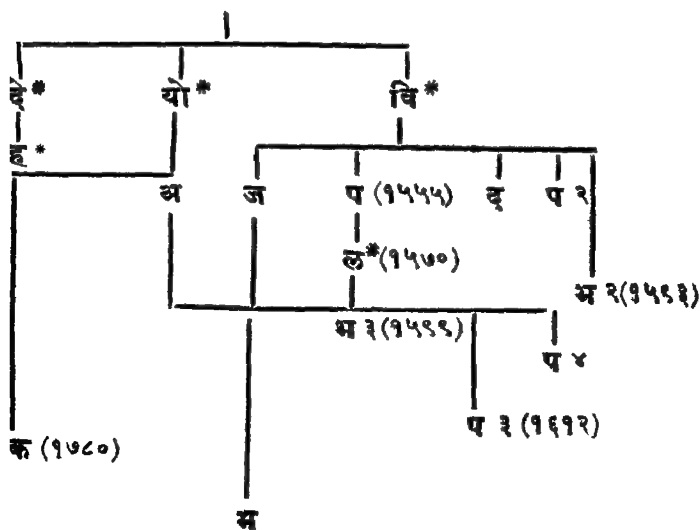
कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र नामधारी ही थे तो वे पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखने वाले वे प्रभाचन्द्र नहीं हो सकते जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। प्रभाचन्द्र नामके अनेक मुनि और कर्ता हुए हैं (देखो 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार भूमिका पंडित जुगलकिशोर मुख्तार कृत, व जैनशिलालेखसंग्रह भाग १)। यह कृति कोई बहुत प्राचीन ज्ञात नहीं होती।

अब प्रश्न यह है कि इन दोहों की लक्ष्मीचन्द्रकृत 'पञ्जिका' कौनसी है। हमारा अनुमान है कि जो टिप्पण प. प्रति पर पाया जाता है वही वह पञ्जिका है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार टिप्पण और पञ्जिका में कोई बड़ा भेद ज्ञात नहीं होता।

अब हम पूर्वोक्त पोथियों की विशेषताओं पर से इस ग्रन्थ की परम्परा का कुछ अनुमान कर सकते हैं। देवसेनकृत मूल ग्रन्थ वि सं. ९९० के लगभग तैयार हुआ। आगामी पांच सौ वर्षों में इसकी तीन प्रकार की प्रतियां प्रचलित होगईं। एक में कर्ता का नाम देवसेन पाया जाता था इसलिये हम इसे दे. प्रति कहेंगे। इसी पर से ह. अर्थात् हृदयनगर की वह प्रति तैयार हुई जिसमें ग्यारह दोहे और जुड़ गये तथा जिसपर से संवत् १७८० में हमारी क. प्रति तैयार हुई। दूसरी प्रति में परमात्मप्रकाश की भाषा व छन्द के साम्य पर से ग्रन्थ के कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव जुड़ गया था। इसमें दोहों की संख्या २२४ थी। इसे हम यो. कहेंगे। इसी पर से हमारी अ. प्रति तैयार हुई होगी। हम कह चुके हैं कि अ. प्रति के पाठ क. से बहुत कुछ मिलते हैं अतएव इसका ह. से भी कुछ सम्बन्ध ज्ञात होता है। तीसरी प्रति में दोहों की संख्या २२३ या २२४ थी किन्तु कर्ता का नाम कोई भी नहीं पाया जाता था इसे हम वि. प्रति कहेंगे। इस पर से हमारी पांच प्रतियां (ज, प, द, प २ और भ २) तैयार हुईं प्रतीत होती हैं। प. प्रति गुजरात में मल्लिभूषण के शिष्य लक्ष्मण ने सं. १५५५ में लिखाई। आगे चलकर ये ही लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्रके नाम से मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी

हुए। म. प्रति के अनुसार उन्होंने इस ग्रंथ की पंजिका बनाई जो प. प्रति पर का टिप्पण ही ज्ञात होता है।

हमारा अनुमान है कि म. प्रति वाले तीन अधिक दोहे भी लक्ष्मीचन्द्रजी के ही बनाये हुए हैं। इस प्रकार उनकी तैयार की हुई (ल.) प्रति में २२७ दोहे होगये, जिस पर से २२७ दोहों वाली हमारी तीन प्रतियां [भ ३, प ३, प ४] तैयार हुईं। म. प्रति में तीन अधिक दोहे हैं, योगीन्द्रदेव मूल ग्रन्थकार कहे गये हैं तथा २१९ वां दोहा नहीं है। अतः उसका सम्बन्ध ल. अ. और ज. तीन प्रतियों से था। इस परम्परा को हम वृक्ष द्वारा और भी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते हैं। जिन प्रतियों के नाम के साथ * यह चिन्ह है वे अबतक मिली नहीं हैं।



एक प्रश्न और है जिस पर भी यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। दोहा नं. २२२ में जो कुछ कहा गया है उससे ज्ञात होता है कि उसके ऊपर के दोहों की संख्या मूलतः २२० थी। यद्यपि अ. प्रति में 'विंसुत्तरइं' की जगह 'बावीसुत्तरइं' पाठ है पर वह स्पष्टतः कल्पित है। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा दोहा है जो मूल में नहीं था तथा जिसके कारण हमारे दोहों की संख्या २२० की जगह २२१ होगई है। जैसा उपर कह आये हैं, ज. और म. प्रतियों में दोहा नं. २१९ नहीं है। क्या वही दोहा पीछे का जोड़ा हुआ है? वह दोहा इतना सुन्दर तथा ग्रंथकार की शैली के इतना अनुकूल है कि उसे प्रक्षिप्त मानने को जी नही चाहता यद्यपि दोहा नं २२१ की प्रथम पंक्ति प्रायः वही होने से यह भी संभव जान पडता है कि वह प्रक्षिप्त हो। इसका यथार्थ निर्णय कर निकालना बड़ा कठिन है और इसकी कोई बड़ी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। भर्तृहरि आदि कृत शतकों में प्रायः सौ से अधिक ही दोहे पाये जाते हैं।

४ भाषा और व्याकरण.

प्रस्तुत ग्रन्थ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुन्दर है ही पर उसका और भी विशेष महत्व उसकी भाषा में है। जैन भंडारो की सूचियों में इस भाषा के ग्रन्थ प्रायः 'मागधी भाषा' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते है किन्तु यह भाषा न तो मागधी है और न अन्य शौरसेनी आदि प्राचीन प्राकृत। किन्तु इन प्राकृतों ने प्रचलित देशी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रन्थों मे पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपभ्रष्ट रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपभ्रंश या अवहट्ठा पड़ा। प्राकृत व अपभ्रंश भाषायें समय समय पर जनसाधारण की भाषायें रही हैं और इसीलिये वे अपने अपने समय में संस्कृत से भी अधिक मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। कर्पूरमंजरी के कर्ता राजशेखर

को संस्कृत और प्राकृत की रचना के माधुर्य में उतना ही अन्तर दिखता था जितना पुरुषों की कर्कशता और स्त्रियों की सुकुमारता में। उन्होंने कहा है—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम् ॥

[कर्पूर– १, ८]

विद्यापति ठकुर को देशी अर्थात् अपभ्रंश भाषा माधुर्य में संस्कृत व प्राकृत दोनों से बढ़ी चढ़ी दिखने लगी थी। उन्होंने अपनी 'कीर्तिलता' में कहा है–

सक्कअवाणी बहुअ न भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिलवअना सब जन मिट्ठा
तें तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥

१०. वीं ११ वीं शताब्दि के लगभग यही भाषा समस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी किन्तु देश भेद के अनुसार उसमें भेद थे। प्रस्तुत ग्रन्थ मालवा प्रान्त में लिखा गया है अतएव इसमें पश्चिम देश की अपभ्रंश भाषा पाई जाती है जिसका व्याकरण हेमचन्द्राचार्य ने अपनी प्राकृत व्याकरण में अच्छी तरह, खूब उदाहरणों सहित, दिया है। हमने 'णायकुमारचरिउ' की भूमिका में इस भाषा के व्याकरण का सविस्तर परिचय कराया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन पाठन की सुविधा के लिये इसी ग्रन्थ पर से कुछ व्याकरण यहां भी दिया जाता है।

हिन्दी भाषा के साहित्य व इतिहास में इस भाषा के ग्रन्थों का क्या स्थान है यह सुस्पष्ट करने के लिये हिन्दी साहित्य के तीन प्राचीन ग्रन्थों –पृथ्वीराजरासो, वीसलदेवरासो और कीर्तिलता– से इसकी कुछ स्थूल रूप से यहां तुलना की जाती है—

१. कीर्तिलता में मैथिल देश का अपभ्रंश है जो मागधी प्राकृत से निकला हुआ है अतः उसमें स, श और ष, वर्ण तथा प्र, द्र आदि संयुक्ताक्षर पाये जाते हैं। सावयधम्म का अपभ्रंश महाराष्ट्री प्राकृत का है अतः उसमें इन वर्णों का अभाव है।

२. कीर्तिलता में शब्दों के बीच में आये हुए अल्पप्राण वर्णों—क, ग, च, ज आदि– का बहुधा लोप नहीं हुआ। सावयधम्म में अधिकतः हुआ है और उनके स्थान पर कहीं कहीं य श्रुति पाई जाती है।

३. कीर्तिलता में परसर्गों का बहुत सूक्ष्म प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है और प्राकृत विभक्तियां प्राय· उड़ गई हैं। वीसलदेवरासो व पृथ्वीराजरासो में कहीं कहीं परसर्ग और कहीं कहीं संयोगात्मक विभक्तिरूप, प्रायः दोनों अवस्थायें पाई जाती हैं। सावयधम्म में विभक्तियां कायम हैं यद्यपि उनकी जड़ उखड़ चली है। किन्तु परसर्ग का विकाश केवल षष्ठी के साथ ' तण ', व सप्तमी के बोध के लिये ' मज्झि ' में कुछ २ दिखाई देता है।

४. उक्त तीनों ग्रन्थों में मुसलमानी भाषा के संसर्ग का प्रभाव है जैसा कि चन्द बरदाई ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है—

' षद् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया। '

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुसलमानी संसर्ग की गंध तक नहीं है। उसमें पुराण खूब है कुरान बिलकुल नहीं।

अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद करने में मुझे एक और बात का अनुभव हुआ जिसे यहां प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है। संस्कृत के अनेक क्रियापद ऐसे हैं जो अपभ्रंश में पाये जाते हैं और व्रजभाषा आदि पुरानी हिन्दी में भी बहुत कुछ प्रचलित थे किन्तु जो प्रचलित खड़ी बोली में से लुप्त होगये हैं। उनका अर्थ व्यक्त करने के लिये अब हमें उनके भूतकालिक कृदन्त व विशेषण या संज्ञायें बनाकर ' होना ' व ' करना ' क्रिया के साथ उनका उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	अपभ्रंश	पुरानी हिन्दी	प्रचलित रूप
नमति	णमइ	नमता है	नमन करता है
नश्यति	णासइ	नसता है	नष्ट होता है
प्रकाशते	पयासइ	प्रकाशता है	प्रकाशित होता है
मलिनायते	मइलेइ	मैलता है	मैला होता है
भक्षति	भक्खइ	भखता है	भक्षण करता है
वारयति	वारइ	वारता है	वारण करता है
प्रकटयति	पयडइ	प्रकटता है	प्रकट होता है ।

ऐसे उदाहरण अनन्त है । यह मुझे भाषा में उन्नति की जगह अवनति का लक्षण दिखता है । क्रियाओं का क्षेत्र घटना नहीं बढ़ना चाहिये था । मेरी समझ में ऐसे क्रियापदों का हिन्दी में प्रयोग प्रारंभना चाहिये ।

व्याकरण

१. सावयधम्म की अपभ्रंश भाषा में देवनागरी वर्णमाला के स्वरों में ऋ, ऐ व औ तथा व्यंजनों में ङ, ञ, श और ष को छोड़ कर शेष सब वर्ण पाये जाते हैं । न की स्थिति कुछ अनिश्चित सी दिखती है । अधिकतः उसके स्थान पर ण ही मिलता है । प्रस्तुत संस्करण में सर्वत्र ण ही रखा गया है ।

उपर्युक्त वर्णों के स्थान में निम्न लिखित आदेश होते हैं ।

ऋ के स्थान में अ, इ उ या रि । यथा, कय–कृत, घय–घृत, अमिअ–अमृत, किविण–कृपण, घिय–घृत, मुअ–मृत, रिसि–ऋषि इत्यादि.

ऐ के स्थान में इ, यथा, विआवच–वैयावृत्य.

औ के स्थान में ओ या अउ । यथा, ओसह–औषध, चोर–चौर, मउण–मौन ।

ष व श के स्थान पर स। यथा, सोह–शोभा, कसाय–कषाय, देस–देश।

ङ् व ञ् के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का उपयोग किया जाता है

संस्कृत भाषा के शब्द यहां प्रायः विकृत अवस्था में पाये जाते हैं। शब्द के मध्यवर्ती व्यञ्जनों में निम्न प्रकार विकार होते हैं—

अल्पप्राण व्यञ्जन का लोप व कहीं कहीं उसके स्थान पर य अथवा व का आदेश। यथा, वयण– वचन, पयासिअ– प्रकाशित, संखेव– संक्षेप, छेय– छेद, घाय– घात.

महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर ह आदेश होता है। यथा, सुह– सुख, अह– अघ, उहय– उभय, दहिमहिअ– दधिमथित, महु– मधु, मुत्ताहल– मुक्ताफल,

कहीं कहीं म के स्थान में व और व के स्थान में म पाया जाता है। यथा, रामण–रावण, सुवण– सुमनस्।

य. के स्थान में ज पाया जाता है। यथा, जुय-युग, जस–यशः, जाण–यान।

संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होने वाले शब्दों मे संयोग के दूसरे वर्ण का लोप कर दिया जाता है। यथा, वय– व्रत, तिहुयण–त्रिभुवन, वसण–व्यसन सावय– श्रावक, साइ–स्वाति। शब्द के शेष भाग में असवर्ण संयोग सवर्ण संयोग में परिणत कर दिया जाता है। यथा, दुद्ध– दुग्ध, कप्पयरु– कल्पतरु, ककस–कर्कश, सुक्क–शुष्क, जुत्त– युक्त, णिप्फल– निष्फल, अण्ण– अन्य।

कुछ संयुक्ताक्षरों के स्थान पर विशेष वर्णों का आदेश होता है। यथा–

क्ष– क्ख, ख या छ, पच्चक्ख– प्रत्यक्ष, पेखण– प्रेक्षण, खम– क्षमा, छण– क्षण।

ग्ध– ज्झ, दज्झ– दग्ध।

त्थ– च्छ, मिच्छत्त– मिथ्यात्व ।

त्य– च्च, सच्च– सत्य, चत्त– त्यक्त, विज्जावच्च–वैयावृत्य ।

द्य– ज्ज, सावज्ज– सावद्य, मज्ज– मद्य, जूअ– द्यूत ।

ध्य– ज्झ, मज्झिम– मध्यम, अज्झवसाय– अध्यवसाय,
सज्झाय– स्वाध्याय ।

ध्व– झु, झुणि– ध्वनि ।

प्स– च्छ, अच्छर– अप्सरस् ।

स्थ– ठ, ठाइ– स्थाति, अट्ठि– अस्थि ।

स्न– ण्ह, ण्हाण– स्नान

२. संज्ञा

अधिकांश संज्ञायें अकारान्त पाई जाती हैं । हलन्त संज्ञाओं के अन्तर्व्यंजन का लोप करके वे अकारान्त बना ली गई है, यथा, जग-जगत्, तम-तमस् । द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है ।

कारकरचना

	एकवचन		बहुवचन	
	विभक्ति	उदाहरण	विभक्ति	उदाहरण
कर्त्ता	उ	दुज्जणु, अमिउ, वासरु, कज्जु, सुहु, दुलहु, कंचणु.	अ	णर, सप्प, वय, तस.
कर्म	उ	धम्मु, पंचगुरु, दंसणु, णेहु.	अ	दायार, णर, सुर.
करण	एँ	संखेवें, सम्मत्तें, संगें, णाइकें.		
	एण	कच्चेण, सण्णासेण, पावेण.		
	इं	मग्गइं, उवएसइं कारणइं		
	इण	तमिण, जित्तइण, बद्धइण.		

सम्प्रदान	हु	णरयहु, गोत्तहु, णिव्वाणहु.	हं	पत्तहं, चोरहं, जीवहं.
	हिं	मुणिहिं.		
अपादान	हु	सायहु	हं	पंचुंबरहं.
सम्बन्ध	हु	जूयहु, तिमिरहु	हं	चोरहं, वणयरहं,
	हि,हिं	सूरिहि, समिल्लहिं, ससिहि.		वग्घहं, धीवरहं.
अधिकरण	इ	जगि, मणुयत्तणि, अंधारइं, लोइ, घरि.	हं	सरवरहं, सुक्कहं.
सम्बोधन	अ	जिय, वड, णिलज्ज.		

आकारान्त व ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द बहुधा ह्रस्वान्त कर दिये जाते हैं, यथा, दय–दया, कह–कथा, वेयण–वेदना, भेरि–भेरी.

किन्तु वेसा, चोरी इत्यादि भी पाये जाते हैं। कर्ता व कर्म कारक में ये प्रकृतरूप ही रहते हैं। शेष कारकों में पुलिंग से कोई बड़ी विशेषता नहीं पाई जाती।

नपुंसक लिंग का लोप सा होता हुआ दिखता है। शेष कारकों में तो इनका कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ता पर कहीं कहीं कर्ता बहुवचन में ये पहिचान पड़ते हैं, यथा, वसणइं, सिक्खावयइं.

३. सर्वनाम

कर्ता	हउं (अहम्, मै हूं), कोइ, सोइ, सो, जं तं (नपुं.) एहु, इहु, एउ.
कर्म	जं, तं.
करण	पइं (त्वया, तूने), जेण, तेण.
सम्प्रदान	पइं (तुभ्यम्, तुझको), तहु.
सम्बन्ध	जसु, तासु, ताहं.

४. संख्यावाचक	पूरणार्थक
१ एक्क	पढमउ, पहिलउ.
२ दुण्णि, बिण्णि	बीयउ, बिदिउ.
३ तिण्णि	तिज्जउ
४ चयारि	चउत्थु
५ पंच	पंचमु
६ छह	छट्ठउ
७ सत्त	सत्तमु
८ अट्ठ	अट्ठमु
९ णव	णवमउ
१० दस	दसमउ
११ एयारह	एयारहमउ
१२ बारह	

५. क्रियापद

क्रियाओं में परस्मैपद आत्मनेपद व भ्वादि अदादि का कोई भेद नहीं रहा। द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है।

वर्तमानकाल

	एकवचन		बहुवचन	
	प्रत्यय	उदाहरण	प्रत्यय	उदाहरण
उत्तम पु.	मि, उं	अक्खमि, करउं.	...	...
मध्यम पु.	हि, सि	अहिलसहि, करहि, चाहहि, होसि.	...	...
अन्य पु.	इ	होइ, पिछइ, धरइ, करइ, वंदइ, पालइ, पियइ, हणइ.	अंति,	जंति, विपकंति, हुंति, हवंति णिंति, भणंति.
			अइं	उप्पज्जइं.

भूतकालिक क्रिया का कार्य प्रायः भूतकालिक कृदन्तों से निकाला जाता है। क्रिया का उदाहरण केवल एक मिल सका है, आसी-आसीत्।

भविष्यत्काल की क्रियाओं के उदाहरण भी बहुत थोड़े मिलते हैं, जाहि- यास्यसि (तूं जायगा), फलहिं- फलिष्यन्ति (फलेंगे), कुणहिं- करिष्यन्ति (करेंगे), होसि- भविष्यसि.

आदेश सूचक मध्यम पु हि देहि, गोवहि, छंडहि, णिवारहि.
हु रक्खहु
इ करि, छंडि, परिहरि, सुणि, मण्णि, म बोल्लि,
उ पिक्खु.
अन्य पु. उ अच्छउ, आउ, जाउ.

विधिसूचक- करेइ, हणेइ.

कर्मणि प्रयोग- दिज्जइ, भुंजिज्जइ, ण्हविज्जइ, रक्खिज्जइ.

प्रेरणार्थक- कारयइ, उट्ठावइ.

वर्तमानकालिक कृदन्त-अंत- उज्झंत, सिंचंत, करत.स्त्रीलिंग-उत्तारंति.

भूतकालिक कृदन्त- अ, इअ, इय- हुअ, मुक, गालिअ, भक्खिअ, कहिय, छड्डिय, उप्पाडिय।

पूर्वकालिक अव्यय-एप्पिणु- पणवेप्पिणु (प्रणमकर),इय-इंछिय,गणिय, विग्गासिय; इवि- फुट्टिवि, खंडिवि, भुंजिवि, विहडिवि.

क्रियार्थ क्रिया-(तुमुन्) इवि-कहिवि ण सक्कइ,कथयितुं न शक्नोति।

६. अव्यय

समयसूचक-अज्जु, कल्लि, अंपइ, जाम।

स्थानसूचक- इत्थु, अंतरि, बाहिरउ, जहिं-तहिं।

प्रकार सूचक- जह-तह, जेम, केम।

अन्य- ण, णउ, ण हु, विणु, जइं, सइं, णिरारिउ, अहवा, पुणरवि।

सावयधम्मदोहा

ॐ

णमकारेपिणु पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु ।
संखेवें पयडक्खरहिं अक्खमि[1] सावयधम्मु ॥ १ ॥

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमिण[2] जिम मरगउ[3] कच्चेण ॥ २ ॥

जिहं[4] समिलंहिं[5] सायरं[6]गयहिं दुल्लहुं[7] जूयहुं[8] रंधु ।
तिहं[9] जीवहं भवजलगयंहं[10] मणुयत्तेणि[11] संबंधु ॥ ३ ॥

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु ।
धम्मु वि रे[12] जिय तं करहि[13] जं अरहंतहं[14] वुत्तु ॥ ४ ॥

अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जसु[15] पुणु केवलणाणु ।
णाणें[16]मुणियकालत्तयहं वयणु वि तासु[17] पमाणु ॥ ५ ॥

---

१ द. अक्खिय. २ क. जमहं; ज. द. तमहिं. ३ द. मरगय. ४ ज. जह. ५ क. ज. द. समिला. ६ अ. सायरे. ७ ज. दुलहउ. ८ क. जूवह; द. जूअहि. ९ ज. तह. १० ज. °गयहिं. ११ क. मणुवत्तणु. १२ अ. द. अरि. १३ ज. वरहि. १४ अ. द. अरहंतें. १५ क. द. जासु वि. १६ अ. ज. णाणु. १७ क. द. तस्स.

हिन्दी अनुवाद

१. दुःखकर्मों का नाश करने वाले पंचगुरु को नमस्कार
नमस्कार करके मैं संक्षेप में, प्रकट शब्दों द्वारा, श्रावक-धर्म का व्याख्यान करता हूं।

२. दुर्जन संसार में सुखी होवे जिसने सज्जन को
दुर्जन को अशीष प्रसिद्ध किया है, जिस प्रकार अमृत विषसे, दिन अंधकार से, व मरकत मणि कांच से [प्रकाशित होता है]।

३. जिस प्रकार सागर में गिरे हुए सैले के लिये जुँवा
मनुष्य जन्म का छिद्र दुर्लभ है उसी प्रकार भव-जल में पड़े हुए जीवों का मनुष्यत्व से सम्बन्ध दुर्लभ है।

४. मनुष्यत्व का सार सुख है। वह सुख धर्म के
धर्म अधीन है। धर्म भी, रे, जीव, वह पाल जो अरहंत का कहा हुआ है।

५. अरहंत भी वह है जो दोषों से रहित हो व जिसे
प्रामाणिक ज्ञान केवल ज्ञान हो। ज्ञान द्वारा त्रिकाल को जानने वाले उनके वचन भी प्रमाण हैं।

तं पायडु जिणवरवयणु गुरुउवएसैंइं होइ ।
अंधारइं विणु दीवडैंइं अहव कि पिंछइ कोइ ॥ ६ ॥

संजमु सीलु सउच्चु तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ ।
दाहछेयकसघायखमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ ७ ॥

मग्गइं गुरुउवएसियइं णर सिवपट्टणि जंति ।
तं[3] विणु वग्घहं वणयरहं चोरहं पिडि विपडंति ॥ ८ ॥

एयारहविहु तं कहिउ रे[4] जिय सावयधम्मु ।
सत्तिए परिपालंतयहं सहलउ मणुसजम्मु ॥ ९ ॥

पंचुंबरहं णिवित्ति जसु वसणु ण एक्कु वि होइ ।
सम्मत्तें सुविसुद्धमइ पढमउ सावउ सोइ ॥ १० ॥

पंचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय तिण्णि ।
सिक्खावयइं चयारि जसु सो बीयउ मणि मण्णि ॥ ११ ॥

चउदहहं दोसहं रहिउ पुव्वाइरियकमेण ।
जिणु वंदइ संझइ तिहि मि सो तिज्जउ णियमेणं ॥ १२ ॥

---

१ अ. ज द उवएसैं. २ द. दीवइण. ३ ज द. तिं. ४ ज. द. अरे. ५ अ. अट्ठउ पालइ मूलगुण. ६ अ विसणु. ७ अ. क. जो सम्मत्तविसु°. ८ ज. °मणु. ९ द वय गुण. १० द. णियमणिण.

६. वह जिनवर का वचन गुरु के उपदेश से प्रकट
गुरु होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई कुछ पहिचान सकता है?

७. जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही
गुरु के गुण गुरु है। दाह, छेद और कश-घात के योग्य ही उत्तम कंचन होता है।

८. गुरु के उपदिष्ट मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं।
गुरुपदेश उसके बिना वे व्याघ्र, वनचर और चोरों के पिंड में पड जाते हैं।

९. वह श्रावक धर्म, हे जीव, ग्यारह प्रकारका कहा
श्रावक धर्म गया है। शास्त्रानुसार उसका परिपालन करने वालों का मनुष्य-जन्म सफल है।

१०. जिसके पंच उदुम्बर से निवृत्ति है, व्यसन एक
दर्शन भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त्व द्वारा सुविशुद्ध है वह प्रथम श्रावक है।

११. जो पांच अणुव्रतों को धारण करता है और जिस
व्रत के तीन निर्मल गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं उसे मनमें दूसरा [श्रावक] मानो।

१२. जो पूर्वाचार्यों के क्रमानुसार बत्तीस दोषों से रहित
सामायिक होकर तीनों संध्याओं में जिनदेव की वन्दना करता है वह नियम से तीसरा [श्रावक] है।

उहयचउद्दसिअट्ठमिहिँ जो पालइ उववासु ।
सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥ १३ ॥

पंचमु जसु कच्चासणहं हरियहं णाहि पवित्ति ।
मणवयकायहिं छट्ठयहं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥ १४ ॥

बंभयारि सत्तमु भणिउ अट्ठमु चत्तारंभु ।
मुक्कपरिग्गहु जाणि जिय णवमउ वज्जियदंभु ॥ १५ ॥

अणुमइ देइ णं पुच्छियउ दसमउ जिणउवइट्ठु ।
एयारहमउ तं दुविहु णं वि भुंजइ उद्दिट्ठु ॥ १६ ॥

एयवत्थु पहिलउँ बिदिउ कयकोवीणपवित्ति ।
कत्तरिलोयणिहियचिहुर सइं पुणु भोजणिवित्ति ॥ १७ ॥

ए ठाणइं एयारसइं सम्मत्तें मुक्काहं ।
हुंति ण पउमइं सरवरहं विणु पाणिय सुक्काहं ॥ १८ ॥

अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु ।
संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मतु वियाणुँ ॥ १९ ॥

१ ज. द. °डंभु. २ ज. णु. ३ द. णउ. ४ द. पहलउ. ५ ज. द. एयारहं वि. ६ क. द. प. णिम्मलु सद्दहाणु. ७ अ. क. वियाण.

१३. जो दोनो चतुर्दशी और अष्टमी को उपवास पालता
प्रोषधोपवास है वह दुष्कृत-कर्मों का विनाश करने वाला चौथा श्रावक कहा गया है।

१४. पांचवां [श्रावक] वह है जिसकी कच्चे भोजन
सचित्तत्याग व हरी शाक में प्रवृत्ति नही है। छटवें [श्रावक] की दिन में मन वचन और काय द्वारा नारी से निवृत्ति रहती है।

१५. सातवां [श्रावक] ब्रह्मचारी कहा गया है।
ब्रह्मचर्य, आरंभ-त्याग और परिग्रहत्याग आठवां आरम्भत्यागी है। हे जीव, परिग्रह से मुक्त, दम्भ से वर्जित रहने वाले को नवमां [श्रावक] जानो।

१६. जो पूछने परभी अनुमति न दे उसे जिन भगवान् ने
अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग दशवां [श्रावक] कहा है। ग्यारहवां दो प्रकार का है जो उद्दिष्ट भोजन नही करता।

१७. पहिला एकवस्त्रधारी, दूसरा कोपीनमात्रधारी।
क्षुल्लक और ऐलक वह कैंची या उस्तरे से केशों को कटवाता है और स्वयं भोजन नही बनाता।

१८. ये ग्यारह स्थान सम्यक्त्व से रहित जीवों के नही
सम्यक्त्व होते। विना पानी के सूखे सरोवरमें कमल नही
।

१९. आप्त, आगम और तत्वादिकों में जो शंकादिक
सम्यक्त्व लक्षण दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है उसे ही सम्यक्त्व जानो।

संकाइय अट्ठ मय परिहरि[1] मूढा तिण्णि ।
जे छह कहिय अणायतण दंसणमल अवगण्णि ॥ २० ॥

सुणि दंसणु[2] जिय जेण विणु सावयगुणु ण हु होइ ।
जह सामग्गिविवज्जियहं सिज्झइ कज्जु ण कोइ ॥ २१ ॥

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि ।
आयहं[4] अंतरि अट्ठहं[5] मि तस उप्पज्जइं[6] भूरि ॥ २२ ॥

महु आसायउं[7] थोडउ[8] वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।
वइसाणरहं तिडिक्कडउ[9] काणणु डहइ महंतु ॥ २३ ॥

अणुवइट्ठइं[10] मण्णियइं महु परिहरियउ होइ ।
जं कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥ २४ ॥

सेव्वइं[11] कुसुमइं[12] छंडियइं करि[13] पंचुंबरचाउ ।
हुंति विमुक्कइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥ २५ ॥

---

१ अ. क. प. परिहर. २ ज. दंसणि; अ. क. द. दंसण. ३ अ. क. वि. ४ द. आयहिं. ५ अ क. अट्ठमि हि. ६ अ. ज. द. उप्पज्जहिं. ७ अ. क. आसादइ. ८ अ. क. थोवड वि. ९ ज. द. तिडिक्कउ वि. १० अ. द. अणु उवइट्ठइं; प. अणउवइट्ठइं. ११ अ. क. ज. द. सग्गइं. १२ द. कुसुमिय. १३ अ. क. ज. द. पंचुबरपरिचाउ.

२०. शंकादिक आठ (दोष), आठ मद और तीन मूढता
दोष, मद, मूढता का परिहार करो। जो छह अनायतन कहे गये हैं
और अनायतन उन्हे (सम्यग्) दर्शन के मैल जानो।

२१. हे जीव, (सम्यग्) दर्शन को सुनो जिसके विना
सम्यग्दर्शन श्रावक का गुण नहीं होता। जैसे सामग्री से विव-
र्जित मनुष्य का कोई भी कार्य नही सधता।

२२. मद्य, मांस, मधु का परिहार करो, पंच उदुम्बर
अष्टमुलगुण दूर करो। इन आठों के अन्दर बहुत त्रस (जीव)
उत्पन्न होते हैं।

२३. मधु थोडासा भी खाया हुआ बहुतसे पुण्य का
मधु नाश कर देता है। अग्नि का छोटासा तिलिंग भी
बड़े भारी वन को ढा देता है।

२४. दूसरों को उपदेश देने व स्वयं मानने से मधु का
मधुत्याग परिहार होता है। जैसा (स्वयं) करता है
वही (दूसरों से) कराता है यह अहाना लोक में है।

२५. सब फूलों को छोडकर पंच उदुम्बर का त्याग कर।
उदुम्बर-त्याग यदि अनुराग छूट गया तो अलंकार [आपही]
छूट जाते हैं।

अट्ठइं पालइ मूलगुण पियइ जिं गालिउ णीरु ।
अह चित्तें सुविसुद्धइण मुच्चइ सव्वु सरीरु ॥ २६ ॥

जेण अगालिउ जलु पियउ जाणिज्जइ ण पमाणु ।
जो णं पियइ अगालियउ सो धीवरहं पहाणु ॥ २७ ॥

आमिससरिसउ भासियउ सो अंघउ जो खाइ ।
दोहि मुहुत्तहं उप्परहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥ २८ ॥

संगें मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मत्तु ।
अंजणगिरिसंगें ससिहि किरणइं काला हुंति ॥ २९ ॥

अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धहं वयणु ण जुत्तु ।
ताहं समउ जें कारणइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥ ३० ॥

तामच्छउ तंउमंडयहं पक्कासणलित्ताहं ।
हुंति ण जुग्गइं सावयहं तहं भोयणु पत्ताहं ॥ ३१ ॥

चम्मच्छइं पीयइं जलइं तामच्छउ दूरेण ।
दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ घियतिल्लेण ॥ ३२ ॥

रुहिरामिसचम्मट्ठिसुर पच्चक्खउं बहुजंतु ।
अंतराय पालउं भविय दंसणसुद्धिणिमित्तु ॥ ३३ ॥

---

१ अ. अट्ठउ. २ ज. द. जु. ३ क. द. सव्व. ४ अ. ज. द. तं. ५ क. मयलिज्जइ. ६ ज. तहं तंडयहं; अ. क. द. तउ भंडयहं. ७ अ. क. होंति. ८ ज. द. पच्चक्खिउ. ९ ज. द पालहिं. १० क. °महंतु.

२६. चित्तशुद्धि

आठों मूलगुणों का पालन करे और गाला (छाना) हुआ जल पिये। चित्त के विशुद्ध होने से सब शरीर शुद्ध हो जाता है।

२७. विना छना पानी

जिसने विना छना पीना पिया उसने प्रमाण नहीं जाना। जो विना छना पीता है वह धीवरों में प्रधान है।

२८. मक्खन

दो मुहूर्त के ऊपर लोनी (मक्खन) में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। (इसलिये) वह मांस सदृश कहा गया है। वह अंधा है जो खाय।

२९. मद्यमांसभोजीका संग

मद्यमांस में रत रहने वालों के संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है। अंजनगिरि के संग से चन्द्र की किरणें भी काली हो जाती हैं।

३०. मद्यमास भोजियों का परिहार

उनके घर में भोजन करना तो रहा शिष्ट लोगों को। उनसे बात भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है।

३१.

एक भोजन करने वाले तप से मंडित (मुनि) तो दूर रहे उनका भोजन पात्र श्रावकों के भी योग्य नहीं है।

३२. चर्माच्छादित जल, घृत, तेल

जो चर्माच्छादित जल पीता है उसकी तो दूरकी बात है, दर्शन शुद्धि तो उसके भी नहीं होती जो (वैसे) घी-तेल सहित खाता है।

३३. अंतराय योग्य वस्तुएं

रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि और सुरा ये प्रत्यक्ष में ही बहुत जंतुपूर्ण हैं। हे भव्य दर्शनशुद्धि के निमित्त इनका अन्तराय पालो।

मूल-उणाली-भिसँ[1]-ल्हसुण-तुंवड-करड-कलिंगु ।
सूरण फुल्लत्थाणयहि भक्खणिँ[2] दंसणँ[3]भंगु ॥ ३४ ॥

अँण्णु[4] जि मुँ[5]ललिउ फुल्लियउ सायहुँ[6] चलियउ जं जि ।
दोदिणँ[7]वासियउ दहिमहिउ ण हु भुंजिज्जइ तं जि ॥ ३५ ॥

वेदलमीसिउ दहिमहिउ जुत्तु ण सावय होइ ।
खद्धइं दंसणभंगु पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥ ३६ ॥

तंबोलोसहु जलु मुइवि जेँ[8] अत्थमियइं सूरि ।
भोग्गासणुँ[9] फलु अहिलसिउँ[10] तेँ किउ दंसणु दूरि ॥ ३७ ॥

जूएँ[11] धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु ।
लग्गउ कट्ठु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु ॥ ३८ ॥

जइ देखवउ छाड्डियउँ[12] ता जिय छाड्डिउ जूउँ[13]
अह अग्गिहिं उल्हावियइं अवसँ[14] ण उट्ठइ धूउ ॥ ३९ ॥

दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण ।
दलफलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४० ॥

---

१ अ. क विस. २ क. भक्खु ण ३ ज. दंसणि. ४ अ. ज. द. अणु. ५ ज. द सुललिउ. ६ अ. क. सायहं. ७ द. दिणि. ८ ज. द. जो. ९ अ मुंगासणु; क. द. पुग्गासणफल. १० ज. द. अहिलसइ. ११ अ जूवें. १२ अ क. जइ छंडिउ वड देखिवउ १३ क. ता छंडिउ तुहुं जूउ. १४ अ. क. अवसि.

३४. मूली, उनाली (?) , बिस (कमलतन्तु), लहसुन,
मूली आदि अभक्ष्य तुंबा, करड, कलिंग, सूरण व फूलस्थानों के भक्षण से दर्शन भङ्ग होता है।

३५. अन्य भी जिसमें जड़ें निकल आई हों, व फूल
अन्य अभक्ष्य आगये हों व जो स्वाद से चलित होगया हो, व दो दिन का बासा दही मही भी नही खाना चाहिये।

३६. द्विदलमिश्रित दही मही श्रावकों के योग्य नही
द्विदल होता। इसके खाने से दर्शन का भङ्ग और सम्यक्त्व मैला होता है।

३७. ताम्बूल, औषध और जल को छोड़कर, सूर्यास्त के
रात्रिभोजन पश्चात् जिसने भोजन या फलाहार की अभिलाषा की उसने दर्शन को दूर कर दिया।

३८. जुंवा से धन ही की हानि नही होती पर व्रतों का
द्यूत भी विनाश होता है। अग्नि केवल जिस काठ में लगे उसे ही नही जलाती किन्तु दूसरों को भी ढा देती है।

३९. यदि देखना तक छोड़ दिया तो, हे जीव, द्यूत
द्यूतत्याग सचमुच छूटा। अग्नि के जलसे शमन कर देने पर अवश्य धुंआ नही उठता।

४०. दया ही धर्मवृक्ष का मूल है। इसे जिसने उपाट
दया डाला उसने दल, फल, कुसुम की कौन कथा मांस भक्षण कर लिया।

पुट्ठिमंसु जइ छड्डियउ ता जिय छड्डिउ मंसु ।
जहं[1] अप्पत्थें वारियइं वारिउ वाहिपवेसु ॥ ४१ ॥

मुहु वि लिहिवि सुत्तउं[2] सुणहु एहु[3] जि मज्जहु दोसु ।
मत्तउ वहिणिहिं[4] अहिलसइ तें तहुं[5] णरयपवेसु ॥ ४२ ॥

मज्जु मुक्कु[6] मुक्कइं मयहं अण्णु जि वेसा मुक्क ।
जह वाहिहिं विणिवारियहिं[7] वेयण होइ ण इक्क ॥ ४३ ॥

वेसहिं लग्गइ धणियधणु तुट्टइं[8] बंधउ मित्तु[9] ।
मुच्चइ णरु सव्वहं गुणहं वेसाघरि[10] पइसंतु ॥ ४४ ॥

कामकहइं[11] परिचत्तियइं जिय दारिय परिचत्त ।
अह कंदइं उप्पाडियइं वेल्लिहिं पत्त सपत्त ॥ ४५ ॥

पारद्धिउं[12] पराणिग्घिणउ हणइं[13] णिरारिउ जेण ।
भयभग्गा जियगहियतण णरयहुं[14] गच्छइ तेण ॥ ४६ ॥

मुक्क सुणहमंजरपमुह जइ मुक्की पारद्धि ।
बीयइं रुद्धइं पाणियइं रुद्धी अंकुरलद्धि ॥ ४७ ॥



१ क. ज. द. जहिं. २ अ. क. द. मुत्तइं. ३ अ. ण हु ण. ४ द. वाहिणाहिं; अ. ज. वाहिणि जि ५ अ. क. तह. ६ अ. क. मज्ज मुक्क. ७ क द. °इं. ८ द. तुट्टउ. ९ अ. क. बंधवमित्त. १० अ. क. द. °गिहि. ११ अ. क. कामकहा° १२ ज. पारिद्धिउ. १३ अ. हणिउ. १४ अ. क. णिरयह.

४१. मांसत्याग — पृष्ठमांस यदि छोड़ दिया तो, हे जीव, मांस छोड़ा। जैसे अपथ्य के निवारण से व्याधिप्रवेश का निवारण हो जाता है।

४२. मद्यदोष — वार वार लिख लिख कर इस सूत्र को सुनो। मद्य का यह दोष है कि मत्त (पुरुष) अपनी बहिन की भी अभिलाषा करने लगता है इससे उसका नरक में प्रवेश होता है।

४३. मद्यत्याग — मद के छोड देने से मद्य भी छूट जाता है और वेश्या भी छूट जाती है, जिस प्रकार कि व्याधि के निवारण हो जाने से एक भी वेदना नहीं रहती।

४४. वेश्यादोष — धनिकों का धन वेश्या में लगता है। बंधु मित्र सब छूट जाते है। वेश्या के घर प्रवेश करने वाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है।

४५. वेश्यात्याग — कामकथा के परित्याग से, हे जीव, दारिका (वेश्या) का भी परित्याग हो जाता है। कंद के उपाट देने पर वेला के पत्र समाप्त हो जाते हैं (स्वयं सूख जाते हैं)।

४६. आखेटदोष — शिकारी बड़ा निर्दयी है जो भय से भागे हुए, जीभ में तृण दबाये हुए (मृगों) का वध करता है। इससे वह नरक को जाता है।

४७. आखेटत्याग — यदि शिकार खेलना छोड़ दिया तो कुत्ता बिल्ली आदि भी छूट गये। बीज में पानी की रोक कर देने से अंकुरलब्धि का अवरोध हो जाता है।

चोरी चोर हणेइ पर बहुयकिलेसहं खाणि ।
देइ अणत्थु कुडुंबहं[1] पि गोत्तहुं[2] जसधणहाणि ॥ ४८ ॥

मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ ।
अह व वणिज्जइं छंडियइं[3] दाणु ण मग्गइ कोइ ॥ ४९ ॥

परतिय बहुबंधण ण परँ[4] अण्णु वि णरयणिसेणि[5] ।
विसकंदलि धारइ णं[6] पर करइ त्रि पाणहं हाणि ॥ ५० ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु ।
अह णाइक्कें जित्तइणँ[7] जित्तउ सयलु खंधारु ॥ ५१ ॥

वसणइं ताँवइं[8] छंडि जिय परिहरि[9] वसणासत्तं[10] ।
[11]हं संसग्गें हरिय पेक्खह तरु डज्झंतें[12] ॥ ५२ ॥

मूलगुणा इय एत्तडइ[13] हियवइ थक्कइ[14] जासु ।
धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणुं[15] तासु ॥ ५३ ॥

---

१ अ. द. कुडंबह. २ अ. क. गोत्तिहु. ३ क छोडियइं. ४ 'बहुबंधणणयर' भी पढा जा सकता है । ५ क. णिरय°. ६ ज. णि. ७ अ. क. इक्कें रायहं जित्तियहं. ८ ज. द. ताव छंडु जिय. ९ अ. परिहर. १० अ. क. प. वसणासत्ति. ११ अ. क. सुक्खइं. १२ क. द. डज्झंति. १३ अ. द. इत्तडउ; क. उत्तडउ. १४ क. थक्कउ. १५ द. दंसण.

४८. चोरी चोर का तो हनन करती ही है पर और भी
चोरी-दोष बहुत से क्लेशों की खानि है। वह कुटुम्ब का भी अनर्थ करती है और गोत्र के यश और धन का नाश कर देती है।

४९. कूट तुलादि के छोड़ देने पर चोरी छूटती है।
चोरी-त्याग वाणिज्य के छोड़ देने पर कोई दान नहीं मांगता।

५०. परस्त्री बहुत बन्धन ही नहीं परंतु वह नरक-
परस्त्री-दोष नसैनी भी है। विष-कंदली मूर्च्छित ही नहीं करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है।

५१. यदि अभिलाष का निवारण होगया तो परदारा
परस्त्री त्याग का त्याग हुआ। नायक के जीत लेने पर समस्त स्कंधावार (सेना) पर विजय होजाती है।

५२. व्यसन तब छूटेंगे, हे जीव, जब व्यसनों में आसक्त
व्यसनी मनुष्यों का परिहार (मनुष्यों) का परिहार करे। सूखों के संसर्ग से, देखो, हरे वृक्ष भी दा जाते हैं।

५३. इस प्रकार ये मूल गुण जिसके हृदय में वास
सम्यग्दर्शन की पूर्णता करते हैं, व जिसका धर्म अहिंसा, देव जिन और गुरु ऋषि है उसीका [सम्यग्] दर्शन है।

जसु दंसणु वसुं माणुसहं दोस पणासइं जंति ।
जहिँ पएसि णिवसइ गरुडु तहिँ किं विसहर ठंति ॥५४॥

दंसणरहियं जि तउ करहिँ ताहं वि णिप्फल णिट्ठ ।
विणु बीयइं कणभरणमिय भणु किं खेत्ती दिट्ठ ॥ ५५ ॥

दंसणसुद्धिए सुद्धयहं होइ सयल वयणिट्ठ ।
अह कप्पडि अणतोरियइं किम लग्गइ मंजिट्ठ ॥ ५६ ॥

दंसणभूमिहिं बाहिरउ जिय वयरुक्ख ण हुंति ।
विणु वयरुक्खहं सुक्खफल आयासहु ण पडंति ॥ ५७ ॥

छुडु दंसणु गड्डायरउ हियडइ णिच्चलु जाउ ।
वयपासाउ समीढवहुं चंचलु घणु जिय आउ ॥ ५८ ॥

अणुवयगुणसिक्खावयहं ताइं मि बारह हुंति ।
भुंजाइवि पारसुरसुहइं जिउ णिव्वाणहु णिंति ॥ ५९ ॥

---

१ अ. क. घइ°. २ ज. माणु सुहु; द. माणसुहु ३ ज. पणासियि; द. पणासवि. ४ अ. क. जिहिं. ५ अ. क. जंति. ६ क. °रहिउ. ७ क. करइ. ८ ज. बीजइं. ९ ज. द. बाहिरा. १० अ. मोक्खफल. ११ अ. क. सुणु. १२ ज. दंसण. १३ हियडउ १४ द. पासउ [illegible]; क. पासहु म समीठपहु; ज. पासउ मि समारुवहु. १५ ज. मि. १६ क. जिय.

५४. जिसके दर्शन है उस मनुष्य के दोष नाश को
दर्शन से दोष- प्राप्त होजाते हैं। जिस प्रदेश में गरुड़ निवास
नाश. करता है वहां क्या विषधर ठहर सकते हैं?

५५. दर्शन से रहित होकर जो तप करते हैं उनकी
दर्शन के विना निष्ठा निष्फल है। विना बीज के, कहीं, कहीं अन्न
तप निष्फल है. के भार से झुकी हुई खेती देखी गई है?

५६. जो दर्शनशुद्धि से शुद्ध हुए हैं उनके सब व्रतों की
दर्शनशुद्धि से निष्ठा होती है। विना तुरटी (फिटकरी) लगाये
व्रतनिष्ठा. कपड़े पर मंजीठा का रंग कैसे चढ़ सकता है?

५७. दर्शनभूमि से बाहिर, हे जीव, व्रतरूपी वृक्ष नहीं
दर्शन के विना होते, और विना व्रतवृक्षों के सुखफल आकाश से
सुख नहीं. तो पड़ेंगे नहीं।

५८. यदि दर्शन रूपी फलक हृदय में निश्चल होगया,
दर्शन और तो उसपर व्रत रूपी पांसों को ढालो। फिर, हे
धनागम. जीव, चंचल धन को आने दो।

५९. अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत सब मिलकर
बारह व्रतों से बारह होते हैं। वे मनुष्य और देवलोक के सुखों
मोक्ष-प्राप्ति. का उपभोग कराकर जीव को निर्वाण तक पहुंचा
देते हैं।

मणवयकायेहिं[1] दय करहि[2] जेम ण ढुकइ पाउ ।
उरि सण्णाहें बद्धइण अवेसि[3] ण लग्गइ घाउ ॥ ६० ॥

अलिय कसायहिं मा चवहि अलिएं गउ वसुराउ ।
जहिं णिविट्ठु साखंडु[4] तहँ[5] डालहे[6] होइ पमाउँ[7] ॥ ६१ ॥

णासइ धणु तसु घरतणउ जो परदव्वु हरेइ ।
गेहिं कवेड्डउ[8] पेसियउ काइं ण काइं करेइ ॥ ६२ ॥

माणइं इंछिय परमहिल रामणु[9] सीय विणट्ठु[10] ।
दिट्ठिहिं मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु ॥ ६३ ॥

पसुधणधण्णइं खेत्तियइं करि[11] परिमाणपवित्ति ।
वलियइं बहुयइं बंधणइं दुकरुं[12] तोडहुं जंति ॥ ६४ ॥

भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि[13] सदप्प ।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्पें[14] ॥ ६५ ॥

---

१ अ. क. कायहं. २ द. कर. ३ अ. ज. द. अवस. ४ अ. क. णिविट्ठु साखंड, प. भाखंड. ५ क. द. तहिं. ६ क द. डालहु. ७ अ पपाउ; क. पसाउ. ८ ज. कवडउ. ९ ज रावणु द. रामणसीय. १० अ. विणट्ठि. ११ क. ज. करहि. १२ प. दुकर तोडइं; अ. क. तोडइं. १३ ज. करिसि दप्पु. १४ ज. सप्पु.

६०. मन, वचन और काय से दया कर जिससे पाप न
दया आवे। उर में कवच बांधने से अवश्य घाव नहीं लगता।

६१. कषाय से असत्य मत बोल। असत्य से वसुराजा
असत्य गया। जिस शाखा पर शाखारंड (द्रोही) बैठा उस शाखा का सत्यानाश हुआ।

६२. जो परद्रव्य का हरण करता है उसके घर का धन
चोरी भी नष्ट हो जाता है। गृह में कपट का प्रवेश कराया। वह क्या क्या नहीं करेगा।

६३. मान के कारण पराई स्त्री, सीता, की इच्छा करने
परस्त्री से रावण का नाश हुआ। दृष्टिविष (सर्प) दृष्टिमात्र से मार डालता है, डसे जाने पर तो कौन जी सकता है।

६४. पशु, धन, धान्य, खेती इनमें परिमाण से प्रवृत्ति
परिग्रह कर। बन्धनों में बहुत वल (आटें) होने से उनका तोडना दुष्कर हो जाता है।

६५. हे जीव, भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को
भोगों का प्रमाण बहुत अभिमानी मत बना। काले सांपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता।

हँ परमाणु करि जियबहु जम्बेइ जेण ।
मोकलियँइं आसागयइं संजमु पलिउ तेण ॥ ६६ ॥

लोहँ लक्ख विसु सणु मयणु दुद्धभरणु पसुभारु ।
छंडि अणत्थहं पिडि पिडिउ किमि तरिहिहि संसारु ॥६७॥

संझा तिहिं मि समाइयँइं उप्पज्जइं बहुपुण्णु ।
कालि वरिट्ठइं भंति कउ जँइ उप्पज्जइ धण्णु ॥ ६८ ॥

चिरकियकम्महं खँउ करइ पव्वदिणेहि उववासु ।
अहवा सोसइ सरसलिलु भंति ण गिंभि दिणेसु ॥ ६९ ॥

पत्तइं दिज्जइ दाणु जिय कोलि विहाणइं तं पि ।
अह विहिविरहिउ वावियउ बीउ वि फलइ ण किं पि ॥७०॥

सण्णासेण मरंतयहं लब्भइ इच्छियलद्धि ।
इत्थु ण कायउ भंति करि जँहिं साहसु तहिं सिद्धि ॥७१॥

---

१ ज. जाइय. २ अ. द. मोकलियहिं आसागयहिं. ३ अ. लोह लाख. ४ अ. क. तरिहसि; ज. तरिसहि. ५ ज. समाइयहं. ६ अ. वरिट्ठउ; क. परिट्ठउ. ७ अ. क. द. जहिं. ८ ज उपज्जइ बहु धम्मु; अ. धम्मु. ९ ज. कय. १० अ. क. खय; ज. खइ. ११ अ. क. दिणह; ज. दिणहं. १२ अ. क. ज. कालविहाणें. १३ क. द. इत्थि. १४ क. जह साहस तह सिद्धि.

६६. दिशा-विदिशाओं (में जावे) का भी प्रमाण कर।
दिग्व्रत इससे जीववध होता है। जिसने आशाओं में जाना छोड़ दिया उसने संयम का पालन किया।

६७. लोहा, लाख, विष, सन, मैन, दुष्टभरण और
अनर्थत्याग पशुभार इनको छोड़। अनर्थों के पिंड में पड़कर किस प्रकार संसार को तरेगा?

६८. तीनों संध्याओं में सामायिक करने से बहुल पुण्य
सामायिक उत्पन्न होता है। यदि समय पर वर्षा होने से धान्य उत्पन्न हो तो इसमें भ्रान्ति क्या है?

६९. पर्व के दिन का उपवास चिरकाल के किये हुए
पर्वोपवास कर्मों का क्षय करता है। ग्रीष्म में सूर्य सरोवर के जल को सुखा देता है, इसमें भ्रान्ति नहीं।

७०, हे जीव, पात्रों को दान देना चाहिये, वह भी समय
पात्रदान पर और विधि सहित। बिना विधि के बोया हुआ बीज कुछ भी फल नहीं देता।

७१. सन्यास से मरण करने वालों को यथेच्छ लाभ
सन्यासमरण होता है, इसमें कुछ भी भ्रान्ति न कर। जहां साहस वहां सिद्धि।

एं बारह वय जो करइ सो गच्छइ सुरलोउं ।
सहसणयणु धरणिंदु जहिं वण्णइ ताहं विमोउं ॥ ७२ ॥

आउसंति सग्गहुं चइवि उत्तमवंसहं हुंति ।
भुंजिवि हरिबलचक्किसुहुं पुणु तवयरणुं करंति ॥ ७३ ॥

उक्किट्ठइं विहिं तिहिं भवहिं भुंजिवि सुरणरसोक्खुं ।
जंति जहण्णइं धुणियरयं भवि सत्तट्ठमि मोक्खु ॥ ७४ ॥

संगचाउ जे करहिं जिय ताहं ण वय भज्जंति ।
अंह किं लग्गहिं चोरडा जे दूरे णासंति ॥ ७५ ॥

एहु धम्मु जो आयरइं बंभणु सुदु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥

मज्जु मंसु महु परिहरइं संपइ सावउं सोइ ।
णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाइ होइ ॥ ७७ ॥

---

१ क. ज. एयारह. २ ज. सुरलोइ. ३ ज. विभोइ. ४ अ. क. सग्गह. ५ क. °सुइ. ६ द. तवयरणि. ७ क. द. सुक्खु. ८ द. धणियरया. ९ अ. क. भवसत्तट्ठइं. १० अ. क. द. अहव कि लग्गहिं; क. लग्गइ. ११ क. आयरहि. १२ क. द सिरमणि. १३ क. द. परिहरहु; ज. परिहरहि. १४ क. सावय.

७२. ये बारह व्रत जो करता है वह सुरलोक को जाता है जहां सहस्रनयन [इन्द्र] और धरणेन्द्र भी उसके भोगों का वर्णन करते हैं।

व्रतपालन का फल

७३. आयु के अन्त में स्वर्ग को छोड़कर उत्तमवंश में उत्पन्न होते हैं, और हरि, बलभद्र व चक्रवर्ती के सुख भोगकर पुनः तप करते हैं।

दूसरे जन्म के सुख

७४. उत्कृष्ट (भव्य) दो तीन भव में सुरनर-सुख भोग कर, व जघन्य सात आठ भव में, कर्मरज को दूर करके मोक्ष को जाते हैं।

कुछ भवों के पश्चात् मोक्ष

७५. जो जीव संगत्याग कर देते हैं उनके व्रत भङ्ग नहीं होते। क्या उनको चोर लग सकते हैं जो दूर से भाग जाते हैं ?

संगत्याग

७६. इस धर्म का जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे शूद्र, कोई भी हो, वही श्रावक है। और क्या श्रावक के सिर पर कोई मणि रहता है ?

श्रावकलक्षण

७७. जो मद्य, मांस और मधु का त्याग करे आजकल वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षों से रहित एरण्ड वन में छांह नहीं होती ?

आजकल श्रावक

सावयधम्महं सयलहं मि दाणु पहाणु वुत्तु ।
तं दिज्जइ विणएण सहुं मुणिवि पत्तु अपत्तु ॥ ७८ ॥

उत्तमपत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिट्ठु ।
अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु ॥ ७९ ॥

पत्तहं जिणउवएसियहं तीहिं मि देइ जु दाणु ।
कल्लाणइं पंचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ॥ ८० ॥

दंसणरहियकुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ ।
खारघडइं अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ ॥ ८१ ॥

हयगयसुणहहं दारियहं मिच्छादिट्ठिहिं भोय ।
ते कुपत्तदाणविडइं फलु जाणहु बहुभेय ॥ ८२ ॥

तं अपत्तु आगमि भणिउ णउ वयदंसणं जासु ।
णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जेंह ऊसरि कउ सासु ॥ ८३ ॥

हारिउ तें धणु अप्पणउ दिण्णु अपत्तहं जेण ।
उप्पहिं चोरेहं अप्पियउ खोज्जु ण पत्तउ केण ॥ ८४ ॥

---

१ द. उत्तिम°; ज. उत्तिमु. २ ज. तहिं मि. ३ क. देउ. ४ अ. ज. कुपत्त. ५ अ. क. °घडे. ६ क. द. तहभेय. ७ क. आगम°. ८ अ. क. ज. °दंसणु. ९ अ. क. द. जहिं. १० द. सस्तु; प. सस्सु. ११ द. खोज्जहिं.

७८. श्रावकों के सब धर्मों में दान प्रधान कहा गया है। इसे पात्र अपात्र का विवेक करके, विनय सहित देना चाहिये।
दान की प्रधानता

७९. जगत् में उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यम श्रावक कहा गया है। अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष कनिष्ठ पात्र कहा गया है।
तीन पात्र

८०. जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट तीनों प्रकार के पात्रों को जो दान देता है वह पंच कल्याण का लाभ करके सुखनिधान का उपभोग करता है।
पात्रदान का फल

८१. दर्शन रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में डाला हुआ जल भी खारा हो जाता है।
कुपात्रदान का फल

८२. घोड़े, हाथी, कुत्ता व वेश्याओं के भोग मिथ्यादृष्टियों के भोग हैं। इन्हें कुपात्रदान रूपी वृक्ष के नाना प्रकार के फल जानो।

८३. आगम में उसे अपात्र कहा है जिसके व्रत व दर्शन नहीं है। उसे दिया हुआ दान निष्फल होता है, जैसे ऊसर जमीन की खेती।
अपात्रदान की निष्फलता

८४. जिसने अपात्र को दान दिया उसने अपना धन खोया। उपत कर चोरों को दिये हुए धन का खोज किस ने पाया है?

इक्कु वि तारइ भवजलहि बेहु दायार सुपत्तु ।
सुपरोहणु एक्कु वि बहुय दीसइ पारहु णिंतु ॥ ८५ ॥

दाणु कुपत्तहं दोसडइ बोल्लिज्जइ ण हु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारंति ॥ ८६ ॥

जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पमणिज्जइ कोइ ।
ता गिहत्थु पंखि वि हवइ जें घरु ताह वि होइ ॥ ८७ ॥

धम्मु करेउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि ।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि ॥ ८८ ॥

काइं बहुत्तइं संपयइं जइं किविणहं घरि होइ ।
उँवहिणीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ ॥ ८९ ॥

पत्तहं दिण्णउ थोवडउ रे जिय होइ बहुत्तु ।
वडह बीउ धरणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महंतु ॥ ९० ॥

धम्मसरूवें परिणवइ चाउ वि पत्तहं दिण्णु ।
साइयजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥ ९१ ॥

१ द. तारइ तीर. २ क. में यह दोहा नही है. ३ अ. ज, द. हवहिं. ४ अ. क. करहुं. ५ अ. क. संपदइं. ६ ज. द. जा. ७ ज. द. सायरणीरु खारें भरिए. ८ अ. पिबइ. ९ अ. द. थोअडउ. १० ज. द. वियरिय. ११ अ. क. सरूवइं.

८५. एक ही सुपात्र अनेक दातारों को भवसमुद्र से
सुपात्रदान तार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार
की महिमा लगाती देखी जाती है।

८६. कुपात्र का दान दोष पूर्ण कहा गया है इसमें
कुपात्रदान भ्रान्ति नहीं। पत्थर की नाव पत्थर को पार
का दोष उतारती कहीं देखी गई है?

८७. यदि दान के विना भी जगत् में कोई गृहस्थ
दान के विना कहलावे तो पक्षी भी गृहस्थ होगया क्योंकि घर
गृहस्थ नहीं तो उसके भी होता है।

८८. 'यदि धन होजाय तो धर्म करूं' ऐसे दुर्वचन मत
मौत का बोल। यमदूत का हल्कारा आज आजाय
अनिश्चय कि कल।

८९. बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर
कृपण की हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका
सम्पत्ति पानी तक कोई नहीं पीता।

९०. हे जीव, पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता
पात्रदान थोड़ा है। वट का बीज भूमि में पड़कर भारी विस्तार
भी बहुत है ले लेता है।

९१. पात्रको दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणमित
होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय
मोती बन जाता है।

जं दिज्जइ तं पावियइ एउ ण वयणु विरुद्धु ।
गाइ पइण्णइ खडभुसइं किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥ ९२ ॥

जो घरि हुंतइं धणकणइं मुणिहि कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥ ९३ ॥

कहिं भोयण सहुं मिट्ठडी दिण्णु कुभोयणु जेण ।
हुंतइं बीयइं घरि पउर वविय बबूलइं तेण ॥ ९४ ॥

जं जिय दिज्जइ इत्थुभवि तं लब्भइ परलोइ ।
मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालेंहं पुणु होइ ॥ ९५ ॥

पत्तइं दाणइं दिण्णइण मिच्छादिट्ठि वि जीव ।
उत्तमाइं भोयावणिहिं इच्छिउ भोउ लहंति ॥ ९६ ॥

कम्मुं ण खेत्तिय सेव जहिं णउ वाणिज्जपयासु ।
घरि घरि दस कप्पयर जहिं ते पूरेंहि अहिलासु ॥ ९७ ॥

किं किं देइ ण धम्मतरु दाणसलिलसिंचंतु ।
जइ मिच्छत्तहुयासणहु रक्खिज्जइ डज्झंतु ॥ ९८ ॥

---

१ अ. क. एहउ वयणु विरुद्धु. २ ज. पयणइं. ३ ज. द. सिद्धु. ४ अ. क मेट्टडी. ५ क. डालहु. ६ क. दिण्णइं दाणइण. ७ ज. °हिं. ८ अ. क भोयवणि वि. ९ क. इच्छिय भोय. १० अ. क. कम्म. ११ क. पूरति, ज. पूरिहिं.

९२. 'जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है' यह वचन उपयुक्त नहीं है। गाय को घास-भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती?

कुभोजन-दान का फल

९३. जो घर में धनधान्य होते हुए भी मुनि को कुभोजन देता है, जन्म जन्म दारिद्र्य उसका पीछा नहीं छोड़ता।

९४. उसकी भोजन से भेंट कहां जिसने कुभोजन दिया। घर में अच्छा बीज होते हुए भी उसने बबूल बोये।

दान से परलोक में सुख

९५. हे जीव, जो कुछ इस भव में दिया जाता है वही परलोक में प्राप्त होता है। वृक्ष की मूल सींचने से ही डाल में फल लगता है।

पात्रदान से भोग-भूमि के सुख

९६. पात्रों को दान देने से मिथ्यादृष्टि भी उत्तम भोगभूमि को जाते हैं और इष्टभोग पाते हैं।

९७. जहां (भोगभूमि में) न खेती व सेवा का काम है और न वाणिज्य का प्रयास है। जहां घर घर दश कल्पवृक्ष हैं जो अभिलाषाओं को पूरी करते हैं।

दान से धर्मवृद्धि और सुलाभ

९८. दान सलिल से सींचे जाने पर धर्मतरु क्या क्या नहीं देता, यदि मिथ्यात्वरूपि अग्नि से उसे जलने से बचाया जाय।

धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भंति ।
जलु कड्ढंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ वडंति ॥ ९९ ॥

धम्मह धणु परिहोइ थिरु विग्घइं विहडिवि जंति ।
अह सरवरु अविणइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥ १०० ॥

धम्में सुहु पावेण दुहु एउ पसिद्धउ लोइ ।
तम्हा धम्मु समायरहि जें हियइंछिउ होइ ॥ १०१ ॥

धम्में जाणहिं जंति णर पावें जाण वहंति ।
धरयर गेहोवरि चडहिं कूवखणये तलि जंति ॥ १०२ ॥

धम्में इक्कु वि बहु भरइ सइं भुक्खियउ अहम्मु ।
वडु बहुयेंहं छाया करइ तालु सहइ सइं घम्मु ॥ १०३ ॥

काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु ।
काइं मि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥ १०४ ॥

सत्थसएणं वियाणियहं धम्मु ण चडइ मणे वि ।
दिणयरसउ जइ उग्गमइं घूयडु अंधउ तो वि ॥ १०५ ॥

---

१ अ. क. काइं म भंति; द. काइं मणंति. २ ज. वहंति; द. वहुंति. ३ अ. क. परहोइ. ४ अ. अविणय. ५ अ. क. एहु. ६ क. धम्म समायरह जिह हियइच्छिय. ७ अ. क. द. जाणहं; ८ द. ण. हुंति. ९ क. खणे. १० अ. क. द. बहुयहं. ११ ज. घुम्मु; १२ ज. °सपहिं. १३ द. चडइ. १४ अ. उग्गमहि. १५ अ. क. घूयउ.

९९. धर्म करने वालों के धन होता है इसमें भ्रान्ति
धर्म से धन प्राप्ति न करना चाहिये। कूप से जल काढने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।

१००. धर्म से धन स्थिर होता है और विघ्न विघट
धर्म से धन की स्थिरता जाते हैं। पार से रहित सरोवर तट से फूट जाता है।

१०१. 'धर्म से सुख, पाप से दुख' यह लोक में प्रसिद्ध
धर्म से सुख है। इसलिये धर्म कर जिससे मनोवाञ्छित प्राप्त हो।

१०२. धर्म से नर यानों द्वारा जाते हैं और पाप से यानों
धर्म का सुफल, पाप का दुष्फल का वहन करते हैं। घर बनाने वाले घरके ऊपर चढते हैं और कुआ खोदने वाले नीचे को जाते हैं।

१०३. धर्म से एक ही बहुतों का भरण पोषण करता है
धर्म की शक्ति और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। वट बहुतों पर छाया करता है और ताल स्वयं घाम सहता है।

१०४. बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे
धर्म का मूल कभी दूसरों के प्रति भी मत करो। यही धर्म का मूल है।

१०५. सौ शास्त्रों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञान वाले
विपरीत ज्ञानी के मन पर धर्म नही चढता। यदि सौ सूर्य भी ऊग आवें तो भी घुग्घू अंधा ही रहेगा।

घोडहं लग्गिवि पावमइ करइ परपहं दुक्खु ।
देउले लग्गिय खिल्लियइं किण्ण पलोट्टइं मुक्खु ॥ १०६ ॥

छुडु सुविसुद्धियं होइ जिय तणुमणवंयसामग्गि ।
धम्मु विढप्पइ इँचियइं धणहं विलग्गउ अग्गि ॥ १०७ ॥

मुणि वंयणइं झायहि मणइं जिणु भुवणत्तयबंधु ।
कायंइं करि उववासु जिय जें खुट्टइ भवसिंधु ॥ १०८ ॥

होइ वणिज्जु ण पोट्टलिहिं उववासहिं णउ धम्मु ।
एहु अंहाणउ सो चवइ जसु कउ भारिउ कम्मु ॥ १०९ ॥

पोट्टलियइं मणिमोत्तियइं धणु कित्तियंहिं ण माइ ।
बोरिहिं भरिउ बलद्दडा तं णाही जं खाइ ॥ ११० ॥

उववासहु इकहु फलइं संबोहियपरिवारु ।
णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥ १११ ॥

तें कज्जें जिय पंइं भणिउ करि उववासब्भासु ।
जाम ण देहकुडिल्लियइं ढुकइ मरणहुयासु ॥ ११२ ॥

---

१ अ. देउलि. २ ज. लग्गावि. ३ ज. कीलियहिं. ४ प. पइट्टइ. ५ अ. क. ज सुविसुद्धइ. ६ द. °वयणे समग्गि. ७ अ. क. त्तित्तियइं. ८ ज. द. वयणि. ९ क झाइय मणइ. १० ज. कायइं. ११ ज पोट्टिलिहिं. १२ ज. अयाणउ. १३ अ. कित्तयहिं १४ अ. क. बोरिय. १५ ज. पइं. १६ ज. उववासु सपासु.

१०६. पेट के लिये भी पापमति दूसरों को दुःख पहुंचाता
पेट के लिये पाप — है। देवल में लगी हुई खीलियों को मूर्ख क्यों नहीं पलोटता ?

१०७. यदि, हे जीव, तन, मन और वचन की सामग्री
मन-वचन-काय की शुद्धि — विशुद्ध होय तो इतने से ही धर्म बढ़ता है। धन में आग लगने दे।

१०८. त्रिभुवन-बन्धु जिन भगवान् का वचनों से कीर्तन
ध्यान, कीर्तन और उपवास — कर, मन से ध्यान कर, और काय से उपवास कर, जिससे, हे जीव, भवसिंधु खुटे।

१०९. वाणिज्य पोटली से नहीं होता। उपवास से धर्म
उपवास की वाणिज्य से उपमा — नहीं होता। यह अहाना वह कहता है जिसने भारी (दुष्) कर्म किया है।

११०. मणि और मोतियों की पोटली में धन कितना है इसका मान नहीं रहता। बैल भरे बेरों का तो कोई खाने वाला भी नहीं है।

१११. एक ही उपवास के फल से परिवार का सम्बोधन
उपवास-फलका उदाहरण — करके नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नागकुमार।

११२. इसीलिये, हे जीव, तुझसे कहता हूं कि उपवास
उपवास का अभ्यास — का अभ्यास कर, जबतक कि देह रूपी कुंड में मरण की आग नहीं पड़ी।

धम्मु विसुद्धउ तं जि पर जं किज्जइ काएण ।
अहवा तं धणु उज्जलउ जं आवइ णाएण ॥ ११३ ॥

णिद्धणमणुयह कट्ठडा संजमि उ[1]णय दिंति ।
अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुंति ॥ ११४ ॥

णियमविहूण[2]ह णिहुणी जीवह णिप्फल होइ ।
अणबोल्लिय[3]उ कि पावियइ दम्म[4]कलंतरु लोइ ॥ ११५ ॥

जो वयभायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
तं सिरु जं[5] जिणमुणि णवइ रेहइ[6] भत्तिभरेण ॥ ११६ ॥

दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ ।
जे जिणतित्थ[7]हं अणुसरहिं पाय वि ते जि[8] पसत्थ ॥११७॥

जे सुणंति धम्मक्खर[9]इं ते हउं मण्णमि कण्ण ।
जे जोयहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥ ११८ ॥

अवरु वि जं जहिं उवयरइ[10] तं उवया[11]रहि तित्थु ।
लइ जिय[12] जीवियलाहडउ देहु म लेहु[13] णिरत्थु ॥ ११९ ॥

---

१ अ. क. संजमियउणय. २ अ °विहूणा; क. विहूणी. ३ ज. बोल्लिउ. ४ क. दव्वफलंतरु. ५ ज जिं. ६ अ सोहइ. ७ अ. ज. °तित्थहिं. ८ अ. क. ण ९ अ क. °हिं; ज. °हं. १० अ. क. °हि. ११ ज. उवयारिहिं. १२ द. जीविय जियलाहडउ. १३ प. करहु.

११३. काय से धर्म, न्याय से धन

धर्म वही विशुद्ध है जो अपनी काय से किया जावे, और धन वही उज्वल है जो न्याय से आवे।

११४. निर्धनता और संयम

निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं। उत्तम पद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते हैं।

११५. नियम और निष्ठा

नियम-विहीन मनुष्य की निष्ठा निष्फल होती है। बिना बोलाये क्या कोई लोक में दाम का टुकड़ा भी पाता है?

११६. सच्चा तन, सच्चा मस्तक

जो व्रत-भाजन हो वही तन है, अन्य किस काम का? वही सिर है जो जिनमुनि को नमस्कार करे और भक्ति के भार से सुशोभित हो।

११७. सच्चे हाथ, सच्चे पांव

जो दान और पूजाविधि करें वे ही सुलक्षण हाथ हैं। जो जिनतीर्थों का अनुसरण करें वे ही पांव प्रशंसनीय हैं।

११५. सच्चे कान, सच्चे नेत्र

जो धार्मिक शब्दों को सुनते हैं उन्ही को मैं कान मानता हूं। जो जिनवर का मुख देखें वे ही परम लोचन धन्य हैं।

११९. धर्म से देह की सार्थकता

और भी जो (अंग) जैसा उपकार कर सके उससे वैसा उपकार कराओ। हे जीव, जीवन-लाभ लेकर देह को निरर्थक मत करो।

घरु पुरु परियणु धणियधणु पंचवपुत्तसहाइं ।
जीवें जंतें धम्मु पर अण्णु ण सरिसिउ जाइ ॥ १२० ॥

देहि दाण चंउ किं पि करि मणे गोवहि णियसत्ति ।
जं कड्ढियइं वलंतयहं तं उव्वरइ ण भंति ॥ १२१ ॥

जइ जिय सुक्खहं अहिलसहि छंडहि विसयकसाय ।
अह विग्घइं अणिवारियहं फलहिं कि अज्झवसाय ॥ १२२ ॥

फरसिंदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु ।
करिणिहिं लग्गउ हत्थियउ णियलंकुसदुहु पत्तु ॥ १२३ ॥

जिब्भिंदिउ जिय संवरहि सरस ण भल्ला भक्ख ।
गालइं मच्छु चडप्फडिवि मुडे विसहइ थलदुक्ख ॥ १२४ ॥

घाणिंदिय वड वासि करहि रक्खहुं विसयकसाउ ।
गंधहं लंपड्ड सिलिमुहु वि हुउ कंजइं विच्छाउ ॥ १२५ ॥

रूवहु उप्परि रइं म करि णयण णिवारहि जंत ।
रूवासत्त पयंगडा पेक्खेंवहि दीवि पडंत ॥ १२६ ॥

---

१ द सयाइं. २ अ. ज. वउ. ३ अ. क. माणि. ४ क. कड्ढियइं घरवरतयहं. ५ ज. द सुक्खहिं. ६ क. विग्घें. ७ क. लग्गिउ. ८ द. °वुह. ९ अ. मुह. १० क रक्खउ. ११ ज. °पमाउ. १२ द मइ. १३ ज. रूवहु लग्गि. १४ क. पेखइ.

१२०. *जीव का सखा साथी केवल धर्म* — घर, पुर, परिजन, धनिकों का धन, पुत्र, बांधव और सहायक ये जाते समय जीव के साथ नहीं जाते। धर्म ही एक साथ जाता है।

१२१. *दान और मनोगुप्ति* — कुछ भी कर के चार दान दे। मन को निजशक्ति के अनुसार गोप। जो खींच लिया चलते समय वही उपकारी होगा इसमें भ्रान्ति नहीं।

१२२. *विषय-कषाय का त्याग* — हे जीव यदि तूं सुख चाहता है तो विषय-कषाय छोड़ दे। जिन्होंने विघ्नों का निवारण नहीं किया उनके क्या अध्यवसाय फलीभूत होते हैं ?

१२३. *स्पर्शेन्द्रिय* — हे जीव, स्पर्शेन्द्रिय का लालन मत कर। लालन करने से यह शत्रु बन जाता है। करिणी से लग कर हाथी जंजीर और अकुंश के दुख में पड़ा है।

१२४. *जिह्वेन्द्रिय* — हे जीव, जिह्वेन्द्रिय का संवारण कर। रसपूर्ण भक्षण भला नहीं होता। गल से मछली थल के दुख सहती है और तड़फड़ा कर मरती है।

१२५. *घ्राणेन्द्रिय* — हे मूढ़, घ्राणेन्द्रिय को वश में कर और विषय-कषाय से बच। गंध का लोभी शिलीमुख (भ्रमर) कमल में कुम्हला कर पड़ा है।

१२६. *नेत्रेन्द्रिय* — रूप के ऊपर रति मत कर। उधर जाते हुए नयनों को भी रोक। रूप में आसक्त पतंग को दीपक पर पड़ते हुए देख।

मणगच्छहं मणमोहणंहं जिय गेयँइं अहिलासु ।
गेयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥ १२७ ॥

एक्केहिं इंदियँमोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं ।
जसु पुणु पंच वि मोक्कला तसु पुच्छिज्जइ काइं ॥ १२८ ॥

ढिल्लउ होहिँ म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
इक णिवारहि जीहँडी अण्ण पराई णारि ॥ १२९ ॥

खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मेल्लि मढिल्लउ तेमँ ।
मुहँ मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेमँ ॥ १३० ॥

परिहरि कोहु खमाइ करि मुंचँहि कोहमलेण ।
ण्हाणें सुज्झइ भंतिकउ छित्तउ चंडालेण ॥ १३१ ॥

मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण ।
अहवा तिमिरु ण ठाँहरइ सूरहु गयणि ठिएण ॥ १३२ ॥

माया मिल्लही थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
कांजियबिंदुइं वि तुडइँ सुद्धु वि गुलियँउ दुद्धु ॥ १३३ ॥

---

१ ज. °मोहणइं. २ अ. गीयइ. ३ अ. क. एक्क वि. ४ अ. इंदिउ. ५ अ. क. द. होइ. ६ क. जीयडी; ज. जीहडिय. ७ क. तेन ८ ज. प. जह. ९ ज. संजमु भरु. १० अ. क. जेन. ११ क. मुंचइ. १२ ज. ढ्ढाइ परा. १३ अ. क. °बिंदु वि घड पडइ. १४ अ. क. गलियउ.

१२७. कुछ अच्छे, मनमोहक गीत की, हे जीव, अभिलाषा
कर्णेन्द्रिय (मत कर)। कर्णहारी गीत के रस से हरिण विनाश को प्राप्त हुए।

१२८. एक ही इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने से सैकड़ों दुख
पंचेन्द्रिय प्राप्त होते हैं। जिसकी पांचों इन्द्रिय मुक्त हैं उसका तो पूछना ही क्या है।

१२९. पांचों इंद्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत हो। दो का
जिह्वा निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरे
और परस्त्री पराई नार।

१३०. गुरुवचन रूपी अंकुश से खींच, जिससे मद्यापन
मन रूपी हाथी, को छोड़कर मनरूपी हाथी संयम रूपी हरे भरे
संयमरूपी वृक्ष. वृक्ष की ओर मुख मोड़े।

१३१. क्रोध को छोड़ और क्षमा धारण कर। क्रोध रूपी
सच्ची शुद्धि मैल से मुक्त हो। भ्रान्ति में पड़ा हुआ मनुष्य ही चंडाल से छुआ जाकर स्नान से शुद्ध होता है।

१३२. हे जीव, मृदुता को मन में धारण कर जिससे
मार्दव मान का प्रणाश हो। सूर्य के गगन में स्थित होने पर तिमिर नहीं ठहर सकता।

१३३. माया को छोड़ जो थोड़ी भी विशुद्ध चरित्र को
मायात्याग दूषित कर देती है। कांजी के बिन्दुमात्र से शुद्ध, गुडीला दूध भी फट जाता है।

लोहु पिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम ।
लोहमुक्कु सायरु तरइ पेक्खि परोहणु[1] तेम ॥ १३४ ॥

मोहु[2] णु छिज्जउ दुब्बलउ होइ इयरु परिवारु ।
हलुवउ उग्घाडंतयहं अह व णिरग्गलु[3] वारु ॥ १३५ ॥

मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।
भंति कवण धत्तूरियउ डॅलु[4] वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छॅहि[5] संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं ।
अह वा णंदु ण को[6] करइ रवि मेल्लिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयल वि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विज्जावच्चें विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।
सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

सज्झाएं णाणइ पसरु रुज्झइ इंदियगाउ ।
पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयॅडकुलु[7] णिच्छाउ ॥ १४० ॥

---

१ क. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जइं. ३ अ. क. द. णिरग्गल. ४ अ. क. डेलु वि सुण्णु. ५ अ. ज. द. मच्छहि. ६ ज. कु वि. ७ अ. क. घूवड.

१३४. लोभ को छोड़ जिससे चतुर्गति रूपी जल हलका
लोभत्याग हो जाय। देख, लोहमुक्त प्ररोहण (नौका) सागर को तर जाती है।

१३५. मोहका क्षय हो जाने से अन्य परिवार (आपही)
मोहत्याग दुर्बल हो जाता है। अर्गला रहित द्वार उघाड़ने में हलका होता है।

१३६. मिथ्यात्व से मोहित नर पाप को भी धर्म मानता
मिथ्यात्व है। धतूरे से मत्त पुरुष दल को भी सुवर्ण कहे इसमें क्या भ्रान्ति है।

१३७. यदि खूब सुख की इच्छा है, तो, हे जीव, सन्तोष
सन्तोष कर। कमलों को आनन्द सूर्य को छोड़कर और कौन करेगा ?

१३८. विनय से विवर्जित मनुष्यों के सकल गुण नष्ट हो
विनय जाते हैं। विना पानी के सरोवर में कमल किस प्रकार रह सकते हैं ?

१३९. वैयावृत्य से विरहित व्रतों का समूह भी नहीं
वैयावृत्य ठहरता। सूखे सरोवर से जाता हुआ हंसकुल क्या धरा (रोका) जा सकता है ?

१४०. स्वाध्याय से ज्ञान का प्रसार और इंद्रिय-ग्राम
स्वाध्याय का अवरोध होता। है प्रातःकाल के सूर्योदय में घुग्घू-कुल निष्प्रभ होजाता है।

गुणवंतहं सहु संगु करि भल्लिम पावहि जेम ।
सुवणसुंपत्तविवज्जियउ वरतरु वुच्चइ केम ॥ १४१ ॥

सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वसि हुंति ।
चाइं कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ १४२ ॥

भोयणु मेउणें जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अह वा वसइ समुद्दि जिय लच्छिम करहुं णिवासु ॥१४३॥

विसयकसाय वसणाणिवहु अण्णु जि मिच्छाभाउ ।
पिसुणत्तणु कक्कसवयणु मिल्लेहि सयलु अणाउ ॥ १४४ ॥

अण्णाएं आवंति जिय आवइ घरण ण जाइ ।
उम्मग्गें चल्लंतयहं कंटइं भज्जइ पाउ ॥ १४५ ॥

परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति ।
अप्पणियइं लालइं मरइ कुसियारउ णउ भंति ॥ १४६ ॥

अण्णाएं बलियेहं वि खउ किं दुब्बलेहं णे जाइ ।
जहिं वाएं वच्चंति गय तेहिं कि सूणी ठाइ ॥ १४७ ॥

---

१ ज. द सवण. २ क सपत्त. ३ ज बुज्झइ. ४ क. चाउ; अ. चाइ. ५ अ. मोणि. ६ द अह व वलाइः ज. वसाय. ७ अ. क. ज. करइ. ८ क. वसाणि कसाए विसममय. ९ अ क. द. मिल्लिवि. १० अ. ज. कंटउ. ११ अ. बलियउ. १२ अ. क. ज. द. दुब्बलउ. १३ ज. द. म. १४ क. ज. तिह.

१४१. गुणवंतों का संग कर जिससे भलाई पावे। सुवन
सुसंगति और सुपत्रों से विवर्जित उत्तम वृक्ष कैसे कहा जा सकता है?

१४२. शत्रु भी मधुरता से शान्त हो जाता है और सभी
माधुर्य, त्याग और पौरुष जीव वश में हो जाते हैं। त्याग, कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है।

१४३. जो मौन से भोजन करता है उसे सरस्वती सिद्ध
मौन-भोजन होती है। लक्ष्मी समुद्र में निवास करती है इसलिये समुद्र (स्व+मुद्रा) में उसका निवास बनाओ।

१४४. विषय-कषाय, व्यसनसमूह, पिशुनत्व, कर्कशवचन
त्याज्य-भाव और सकल अन्याय इनको छोड़।

१४५. अन्याय से (लक्ष्मी) आती तो आजाती है पर
अन्याय धरी (रोकी) नहीं जा सकती। उन्मार्ग से चलने वालों का पांव कांटे से भग्न होता है।

१४६. जिसकी अन्याय में प्रवृत्ति हो उसका परिहार कर
अन्यायी का त्याग चाहे वह अपना पुत्र भी हो। कुसियारा अपने ही लाल (लार) से मरता है, इसमें भ्रान्ति नहीं।

१४७. अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, क्या
अन्याय से नाश दुर्बल का न होगा? जहां वायु से गज भी उड़ जाते हैं वहां क्या कुत्ती ठहर सकती है?

अण्णाएं दालिद्दियहं रे' जिय दुहु आवग्गु ।
लक्कडियेहं विणु खोडयहं मग्गु साचिक्खेलु दुग्गु ॥ १४८ ॥

अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु ।
लुग्गउ पायपसारणइं फाटेइ को संदेहु ॥ १४९ ॥

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुद्धु ।
सप्पहं संगें कड्ढियउ चंदणु पिक्खु सुयंधु ॥ १५० ॥

विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु ।
टालइ रयंइ ण उखिडउ उंदरु को संदेहु ॥ १५१ ॥

धम्में विणु जे सुक्खडा तुट्टा गया वियार ।
जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक जि वार ॥ १५२ ॥

सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउ दिट्ठउ केण ॥ १५३ ॥

रे जिय पुव्व ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
भंति कवण विणु णावियइं खडहडि णिवडइ णाव ॥१५४॥

१ ज. द. अरे. २ ज. द. लक्कडियइं. ३ अ. क. सचिक्खिलु ४ अ. ज. फट्टइ. ५ अ. पिक्खि. ६ अ. क. रयणिहिं उखिडउ. ७ अ. उंदुरु ८ ज. द. ण होइसइ अरि जिय को पावेण ९ ज. छिंदुउ; द. खिंदुउ.

१४८. अन्याय से दुखवृद्धि — हे जीव, अन्याय से दरिद्रियों का दुख बढ़ता है। बिना लकड़ी के खोड़े के मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है।

१४९. अन्याय से निर्वाह-हानि — अन्याय से दरिद्रियों का निर्वाह भी टूट जाता है। जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही इसमें क्या सन्देह है।

१५०. पैशुन्य — इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहने दे। उसका संग भी विरुद्ध (बुरा) होता है। सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है।

१५१. पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नहीं। उंदीर (मूषक) उत्तरीय (वस्त्र) को काटता है, रचता नहीं।

१५२. धर्मरहित सुख — धर्म के विना जो सुख भोगे हैं वे विचारले कि टूट गये। जो वृक्ष को काटकर खोंटे गये हैं वे फल एक बार के ही हैं।

१५३. पाप से सुख नहीं. — हे जीव, पाप से यहां कोई नर सुखी नहीं हुआ। कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है ?

१५४. धर्म नाविक है — हे जीव, 'पूर्व में धर्म नहीं किया' इसका संताप कर। विना नाविक के नाव चट्टानों पर आ पड़े तो इसमें क्या भ्रान्ति है।

जेण सुदेउ सुणरु हवसि सो पइं कियउ ण धम्मु ।
बिण्णि वि छत्तें वारियहि इक्कु पाणिउ अरु घम्मु ॥१५५॥

अभयदाणु भयभीरुयहं जीवहं दिण्णु ण आसि ।
वार वार मरणहं डरहि केम चिराउसु होसि ॥ १५६ ॥

विज्जावच्चु ण पइं कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु ।
एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदि म होहि अयाणु ॥ १५७ ॥

संघहं दिण्णु ण चउविहहं भत्तिए भोयणदाणु ।
रे जिय काइं चडप्फडहि दूरीकयणिव्वाणु ॥ १५८ ॥

पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज्ज ।
मइ पंडियउ कवित्तु गुणु चाहहि केम णिलज्ज ॥ १५९ ॥

पाउ करहि सुहु अहिलसहि परं सिविणे वि ण होइ ।
माइणिबें वाहेयइ अंब कि चक्खइ कोइ ॥ १६० ॥

गुरुआरंभइं णरयगइ तिव्वकसाय हवंति ।
इकछिद्दिय पाहणभरिय वुड्डइ णाव ण भंति ॥ १६१ ॥

---

१ ज. विरयाहि. २ अ. °भीतयहं. ३ ज. चिरायउ ४ अ. संपहं. ५ अ. क. द. °विहहं. ६ ज. कवित्त°. ७ क. द. परि. ८ ज. मायह. ९ अ. ज. वाषियइं. १० अ. द °आरंभहं. ११ अ. क. णिरय°.

१५५. *धर्म के बिना नरत्व और देवत्व नही*

जिससे सुदेव और सुनर होता है उस धर्म को तूने नही किया। दोनों का छत्र से निवारण कर सकेगा, एक पानी और (दूसरा) घाम।

१५६. *चिरायु क्यों न हुआ ?*

भयभीरुओं को कभी अभयदान नही दिया। अब बार बार मरने से डरता है। चिरायु कैसे हो सकता है।

१५७. *व्याधियों से पीडित क्यों हुआ ?*

तूने न वैयावृत्य किया, न औषधदान दिया, इसलिये व्याधियों से पीडित हुआ है। हे अज्ञानी, कठोर मत हो।

१५८. *निर्वाण से दूर क्यों हुआ ?*

चतुर्विध संघ को भक्ति से भोजनदान नही दिया। रे जीव, निर्वाण को दूर करके अब क्यों तड़फड़ाता है।

१५९. *मति आदि गुण क्यों न हुए ?*

मुनिवरों को पोथी नही दीं, न शास्त्रों की पूजा की। मति, पाण्डित्य, कवित्व व गुण किस प्रकार चाहता है, निर्लज्ज ?

१६०. *पाप से सुख नही.*

पाप करता है और सुख चाहता है, पर वह स्वप्न में भी नही होता। माईफल व नीम बोने से क्या कोई आम चख सकता है ?

१६१. *आरम्भ से नरक गति*

बड़े आरम्भ से तीव्र कषाय और नरक गति होती है। पाषाणों से भरी नाव एक-ही छिद्र से डूब जाती है इसमें भ्रान्ति नही।

कूडतुलामाणाइयहं हरिकरिखरविसमेस ।
जो णच्चइ णंडपेखणउ सो गिण्हइ बहुवेसे ॥ १६२ ॥

हंलुवारंभहं मणुयगइ मंदकसायहं होइ ।
छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होइं ॥ १६३ ॥

सम्मत्तें सावयवयहं उप्पज्जइ सुरराउ ।
जो णविणिडउं छंडियइ सो वारइ किम जाउं ॥ १६४ ॥

धम्में जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु ।
पावें पावइ पावियउ दालिद्दु वि सकिलेसु ॥ १६५ ॥

धम्में हरिहलचक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ ।
भुवणत्तयवंदियचलणु कु वि तित्थंकरु होइ ॥ १६६ ॥

जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणयपंति ।
पहतेएं संभावियइ सूरुग्गमणु ण भंति ॥ १६७ ॥

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण ।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अह वासकेण ॥ १६८ ॥

---

१ ज. कुडतुला कुडमाणयहं. २ ज. णडु. ३ अ. क. भेस. ४ अ. क. लहुआ°. ५ क. कोइ. ६ क. योगाविणडुउ; अ. द. णिडुड. ७ अ. जाइ. ८ क. द. पावइ. ९ ज. °णि.

१६२. कपट–व्यापार का फल — कूट तुला, मानादि (झूठे तराजू, बांट आदि) रखने वाले सिंह, हाथी, गधा, विषवाले व मेष (बकरा) होते हैं। जो नट का तमाशा करता है वह बहुत वेष धारण करता है।

१६३. मनुष्य-गति की प्राप्ति — लघु आरम्भ और मन्दकषाय वालों को मनुष्य-गति प्राप्त होती है। यदि श्रावक धन का व्यापार करता है तो फिर लाभ होता ही है।

१६४. इन्द्रत्व-प्राप्ति — सम्यक्त्व-सहित श्रावक के व्रतों से सुरराज उत्पन्न होता है। जो इन्द्रियों की निष्ठा को छोड़ देता है वह जाने से कैसे रोका जा सकता है ?

१६५. यथेष्ट प्राप्ति — धर्म से जो जो अभिलाषा करता है सो सब पाता है। पाप से पापी क्लेशमय दारिद्र्य पाता है।

१६६. तीर्थंकर पद-प्राप्ति — धर्म से कोई हरि, हर, चक्रवर्ती व कुलकर उत्पन्न होता है और कोई तीर्थंकर होता है जिनके चरणों की तीनों लोक वन्दना करते हैं।

१६७. गर्भकल्याण — स्वर्ग से आगमन के समय उनकी जननी स्वप्न-पङ्क्ति देखती है। सूर्योदय प्रभा के तेज से संभावित होता है इसमें भ्रान्ति नही।

१६८. जन्म कल्याण — जन्मोत्सव के समय उनका स्नान शक्र अमृत के घड़ों से करता है। अतुलबली जिन भगवान् अशक्त के द्वारा कैसे नहलाये जा सकते हैं।

सुरसायरि जसु णिक्कमणि घल्लइ चिहुरे सुरिंदु ।
अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥ १६९ ॥

णाणुग्गमि जसु समसरणि पत्तामरसंघाउ ।
होइ कमलैमउलियभसलु सरुग्गमणि तलाउ ॥ १७० ॥

जसु पत्तुत्तमेराइयउ विलुलंतो वि असोउ ।
अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥ १७१ ॥

वारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु ।
हयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥ १७२ ॥

माहउसरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि थिप्पंति ।
सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३॥

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइ ।
अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवरआसणु होइ ॥ १७४ ॥

सद्दमिसिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं खेरि ।
हक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ स भेरि ॥ १७५ ॥

---

१ द. णिक्खवणि. २ ज. चिहुरु. ३ ज कमलु. ४ ज. द. °त्तमि. ५ ज. रोइ. ६ अ. °हरु; ज. °हरि; द. °वरि. ७ अ. मु (सु. ?); द. म.

१६९. निष्क्रमण के समय सुरेन्द्र उनके केशों को
तप कल्याण सुरसागर में घालते (डालते) हैं। उत्तम कार्य का ठांव भी क्षीरसमुद्र होता है।

१७०. ज्ञानोदय के समय उनके समवशरण में देवों का
ज्ञान कल्याण समूह प्राप्त होता है। सूर्योदय के समय तलाब कमलों पर मुकुलित भ्रमरों से युक्त होता है।

१७१. उनके ऊपर उत्तम पत्रों से विराजित अशोक
अशोक लहलहाता है। जिन्होने परिजनों का बहुत दूर से परित्याग कर दिया उन्हे कैसे शोक उत्पन्न हो सकता है ?

१७२. जिनेश्वर का अंधकार दूर हुआ है, अतः उनका
भामण्डल भामण्डल अतिदीप्तिमान, तम का नाश करने वाला और सुहावना होता है इसमें कुछ विचित्र नही है।

१७३. माधवशरण शिलीमुख कुसुमासन पर तृप्त हो
पुष्पवृष्टि जाते हैं और अलीकविवर्जित सुमनस जिन भगवान् के चरणों में पड़ते हैं।

१७४. सुरमुकुटांकित धवल सिंहासन भी बहुत शोभा-
सिंहासन यमान है। जिनवर का आसन सुरमणि-अंकित होता है।

१७५. शब्द के मिष से दुंदुभि रटती है 'जीवों के प्रति
दुंदुभि द्वेष छोड़ो'। वह नर, तिर्यञ्च और सुरों को हकारती है। वह भेरी ऐसी होती है।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति ।
हरिसिय जिणपासट्ठिया अह सचामर हुंति ॥ १७६ ॥

छत्तइं छणससिपंडुरइं सुर णर णाय धरंति ।
विसहरसुरचक्किहिं गहिय जिणपुंडरिय हवंति ॥ १७७ ॥

झुंणिअक्खियसंपुण्णहल जीवा सासणि जासु ।
अमियसरिसै हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥१७८॥

एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्में एवड्डे ।
वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसंतें मंड ॥ १७९ ॥

एवंविहु जो जिणु महइ वंछिउ सिज्झइ तासु ।
[६]बीजें अह वा सिंचियंइं खेत्तिय होइ ण कासु ॥ १८० ॥

जो जिणु ण्हावइ घयपयहिं सुरहिं ण्हविज्जइ सोइ ।
सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥ १८१ ॥

गंधोएण जि जिणवरहं ण्हाविर्यं पुण्णु बहुत्तु ।
तेलहैं बिंदु वि विमलजैंलि को वारइ पसरंतु ॥ १८२ ॥

---

१ अ. °हं. २ अ. धुणि; ज. मुणि. ३ ज सहिय. ४ अ क. हवइ. ५ अ. क. °विह. ६ ज. द. विजैं. ७ ज. संचियएं ८ ज. ण्हाविहिं. ९ द. तेलहे. १० ज. जलिहिं.

१७६. चमर चन्द्रकिरणों के समान धवल चौसठ चमर उनके ऊपर ढुलते हैं। हर्ष से जिन भगवान् के पास स्थित होने वाले सचामर (सचे अमर) होते हैं।

१७७. छत्र पूर्णचन्द्र के समान श्वेत छत्र सुर नर और नाग धारण करते हैं। जिन भगवान् के पुंडरीक (छत्र) विषधर, सुर और चक्रवर्तियों द्वारा गहे जाते हैं।

१७८. दिव्यध्वनि उनके शासन में ध्वनि द्वारा जीवों के सम्पूर्ण फलों का व्याख्यान होता है। अमृत के सदृश, हृदयमधुर गिरा किसे प्यारी नहीं लगती?

१७९. यह जिनेश्वर की इतनी विभूति धर्म से ही हुई है। नयनानन्दकारी वनश्री वसन्त से ही मण्डित होती है।

१८०. जिन-पूजा इस प्रकार के जिन भगवान् की जो पूजा करता है उसका वाञ्छित सिद्ध होता है। बीज के सींचने से किसकी खेती (समृद्ध) नहीं होती?

१८१. घृत-पय-प्रक्षाल जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान कराता है उसे सुर नहलाते हैं। 'जो जैसा करता है तैसा पाता है' यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

१८२. गंधोदक-प्रक्षाल जिनवर के गंधोदक स्नान से बहुत पुण्य होता है। विमल जल में पड़े हुए तेल के बिन्दु को फैलने से कौन रोक सकता है?

जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ णासु ।
ससहरकिरणकरालियहं तिमिरहु किचिउ थामु ॥ १८३ ॥

जो चच्चइ जिणु चंदणइं होइ सुरहि तसु देहु ।
तिल्लें जह दीवहं गयइं उज्जोइज्जइ गेहु ॥ १८४ ॥

जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसूइ ।
अह विहियइं सुयपंचमिहि होइ वि चक्किविहूइ ॥ १८५ ॥

लुट्टइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु ।
अह सरवरि णइसारिणइ पाणिउ होइ अगाहु ॥ १८६ ॥

णेवज्जइं दिण्णइं जिणहु जिय दालिद्दहु णासु ।
दुरिउ ण ढुकइ तहु णरहु लच्छिहि होइ ण णासु ॥१८७॥

दीवइं दिण्णइं जिणवरहं मोहहु होइ ण ठाउ ।
अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ विपलयहु जाइ ॥१८८॥

धूवउ खेवइ जिणवरहं तसु पसरइ सोहग्गु ।
इत्थु म कायउ भंति करि तें पडिबद्धउ सग्गु ॥ १८९ ॥

१ क. पयासइ. २ क. उज्जोवज्जइ. ३ अ. क. द. सरवर; ज. सरवणइं सारणइं. ४ अ. द. तहो; ज. तसु. ५ द. मोहह.

१८३. जल-प्रक्षाल फल — जिनदेव के चरणों पर की जलधारा रज का नाम तक नष्ट कर देती है। चंद्रकिरणों से करालित तिमिर का कितना सामर्थ्य है?

१८४. चन्दन-पूजा फल — जो जिन भगवान् की चन्दन से पूजा करता है उसका शरीर सुगन्धित होता है, जैसे कि दीप में डाले तेल से घर में उजेला किया जाता है।

१८५. अक्षत-पूजा, श्रुत-पंचमी फल — जो अक्षतों से जिनदेव को पूजता है उसका उत्तम वंश में जन्म होता है, और श्रुतपंचमी के विधान से चक्रवर्ती की विभूति होती है।

१८६. पुष्प-पूजा फल — जो पुष्पों से जिनदेव को पूजता है उसका कभी भोग नहीं खुटता। सरोवर में नदी की नहर मिला देने से पानी अगाध हो जाता है।

१८७. नैवेद्य-पूजा फल — जिनदेव को नैवेद्य चढाने से, हे जीव, दारिद्र्य का नाश होता है, उस मनुष्य को पाप नहीं लगता और लक्ष्मी का विनाश नहीं होता।

१८८. दीप-पूजा, रोहिणी उपवास फल — जिनवर को दीप चढाने से मोह को स्थान नहीं मिलता, और रोहिणी के उपवास से शोक भी प्रलय को पहुंच जाता है।

१८९. धूप-पूजा फल — जो जिनवर को धूप खेता है उसका सौभाग्य फैलता है। इसमें कुछ भी भ्रान्ति मत कर कि उसने स्वर्ग बांध लिया।

देइ जिणिंदहं जो फलइं तसु इच्छियइं फलंति ।
मोयघरहं गय रुक्खडा सयल मणोरहं दिंति ॥ १९० ॥

जिणपयगयकुसुमंजलिहिं उत्तमसियसंजोउ ।
सरमयरविकिरणावलिए फलिमिहिं लच्छिम होइं ॥१९१॥

जिणपडिमइं काराविययइं संसारहं उत्तारु ।
गमणट्ठियहं तरंडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥ १९२ ॥

जिणभवणइं काराविययइं लब्भइ सग्गि विमाणु ।
अह ठिकइं आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥

जो धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिं मि ण माइ ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ ॥१९४॥

जो पइठावइ जिणवरहं तसु पसरइ जगि कित्ति ।
उवहिवेल छणससिगुणइं को वारइ पसरंति ॥ १९५ ॥

आरत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइ सम्मत्तु ।
भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं धुरु पयाहि ण दिंतु ॥ १९६ ॥

---

१ द. मणोहर हुंति. २ ज. द. होउ. ३ क. °हु; द. °हो. ४ ज. आराहणइं; द. आराहणिहिं. ५ ज. ससिहर. ६ क. °गुणहं. ७ ज. दीवउ दिण्णउ जिणवरहं. ८ क. द. उज्जोइय.

१९०. **फल-पूजा फल**
जो जिनेन्द्र को फल चढ़ाता है उसको यथेष्ट फल प्राप्त होता है। भोगभूमि के वृक्ष उसके सब मनोरथों को पूरा करते हैं।

१९१. **कुसुमांजलि फल**
जिनदेव के पद पर चढ़ाई कुसुमाञ्जलि से उत्तम श्री का संयोग होता है। सरोवर में पड़ी रवि की किरणावलि से कमलों में लक्ष्मी आती है।

१९२. **जिन-प्रतिमा कराने का फल**
जिनप्रतिमा कराने से संसार से उतार होता है। गमन के लिये उद्यत पुरुष को तरंड (डोंगा) ही पार लगाता है।

१९३. **जिनमंदिर निर्माण फल**
जिन-मन्दिर बनवाने से स्वर्ग में विमान मिलता है, और आराधना की टीका करने से समाधि में स्थिति होती है।

१९४. **जिनमंदिर की सफेदी कराने का फल**
जो जिन-मन्दिर को धवल करवाता है (सफेदी करवाता है) उसका यश कहीं नहीं माता। शरत्काल से मिलकर चन्द्रकिरणों का समूह जगत् भर को धवल बना देता है।

१९५. **जिन-प्रतिष्ठा फल**
जो जिनवर की प्रतिष्ठा करता है उसकी जगत् में कीर्ति फैलती है। पूर्णचन्द्र के गुणों से प्रसार करती हुई उदधि की वेला (तरंग) को कौन रोक सकता है?

१९६. **आरती-फल**
जिनदेव को दी हुई आरती सम्यक्त्व का उद्योत करती है। सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सूर्य भुवन को उद्भासित कर देता है।

तिलयईं दिण्णइं जिणवरहं जगि अणुराउ ण माइ ।
चंदकंवि चंदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाई ॥ १९७ ॥

चंदोवइं दिण्णइं जिणहं मणिमंडविय विसाल ।
अह संबंधी ससहरहं गईतारायणमाल ॥ १९८ ॥

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहरि घंट रसंति ।
कुमुयाणंदणि तमहरणि छणजामिणि ण हु भंति ॥ १९९ ॥

चिंधचमरछत्तइं जिणहं दिण्णइं लब्भइ रज्जु ।
अह पारोहहिं णिग्गयहिं वडु वित्थरइ ण चोज्जु ॥ २०० ॥

जिणहरि लिहियइं मंडियइं लच्छि समीहिय होइ ।
पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि ण सक्कइ कोइ ॥ २०१ ॥

जंबूदीउ समोसरणु णंदीसरु लोयाणि ।
जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खहं हाणि ॥२०२॥

दिण्णइं वत्थ सुअजियहं दिव्वंबर लब्भंति ।
पाणिउ पेसिउ पउमिणिहिं पउमइं देइ ण भंति ॥ २०३ ॥

---

१ ज. उदउ कि दित्ती ठाइ. २ द. महि. ३ अ. ज. संबंधी. ४ ज. गय°. ५ क. °वर; द. °हर. ६ ज. °छत्तहं. ७ क. द. भव्वइ. ८ ज. समाहिय. ९ ज. कि. १० ज. द. णंदीसरि. ११ क. दिण्णों; ज. द. दिण्णा. १२ अ. क. ज. पोसिउ.

१९७. *तिलक-फल* — जिनवर को तिलक चढाने से जगत् में अनुराग नही माता। चन्द्रकान्त (मणि) चन्द्र से मिलकर पानी देने से नही रुकता।

१९८. *चंदेवा चढाने की शोभा* — जिन भगवान् को चढाये हुए मणि-मंडित और विशाल चंदेवा (ऐसे शोभायमान होते हैं) जैसे ग्रह और तारागणों की माला चन्द्र से सम्बद्ध हुई हो।

१९९. *जिनगृह में घंटा की महिमा* — जिनगृह में बजता हुआ घंटा भव्यों का उत्साहक और पापहारी होता है। पूर्णिमा की रात्रि कुमुदानन्ददायिनी और अन्धकारहारिणी होती है इसमें भ्रान्ति नही।

२००. *ध्वजा, चमर, छत्र चढाने का फल* — जिन भगवान् को ध्वजा, चमर और छत्र चढाने से राज्य मिलता है। प्रारोहों के निकलने से वट का विस्तार बढे तो क्या आश्चर्य है।

२०१. *मांडना लिखने का फल* — जिनगृह में मांडना लिखने से यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त होती है और महापुण्य होता है जिसका फल कोई कह नही सकता।

२०२. *जम्बूद्वीपादि लिखाने का फल* — जम्बूद्वीप, समोसरण, नन्दीश्वर व लोकों को जिनमन्दिर में लिखवाने से सकल दुखों की हानि होती है।

२०३. *अर्जिकाओं को वस्त्रदान का फल* — अर्जिकाओं को वस्त्र देने से दिव्य वस्त्रों की प्राप्ति होती है। पद्मसरोवर में पानी का प्रवेश कराने से वह पद्म देगा, इसमें भ्रान्ति नही।

सारंभइं ण्हवणाइयहं जे सावज्जं भणंति ।
दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति ॥ २०४ ॥

पुंग्गलु जीवइं सहु गणियं जो इच्छइ घणचाउ ।
ईंणि सम्मत्तें तसु तणइं किम सम्मत्तु म जाउ ॥ २०५ ॥

सम्मत्तें विणु वय वि गय वयहं गयहं गउ धम्मु ।
धम्में जंतें सुक्खु गउ तें विणु णिप्फलु जम्मु ॥ २०६ ॥

पुप्फरासिण्हवणाइयइं पाउ लहु वि किउ तेण ।
विसकणियइं बहु उवहिजलु णउ दूसिज्जइ जेण ॥ २०७ ॥

तें सम्मत्तु महारयणु हिययंचलि थिरु बंधि ।
तें सहु जहिं जहिं जाहि जिय तहिं तहिं पावहि सिद्धि॥२०८॥

दाणचणाविहि जो करइ इच्छियं भोयणिबंधु ।
विक्कइं सुमणि वराडियइं सो जाणहु जाचंधु ॥ २०९ ॥

तें कम्मक्खउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि ।
ण्हवणदाणपूजाइयेहिं जें सासयपइ जाहि ॥ २१० ॥

---

१ अ. द सावज्जु. २ क. पुग्गल जीविहसुहु. ३ अ. क. द गणिउ; ज. गणियउ. ४ अ. क. णिसम्मत्तं. ५ अ. द. लहु किउ. ६ अ तुहुं. ७ क. जाइ. ८ क. पावइ. ९ ज. द. इच्छइ. १० अ. विकिवि. ११ अ. क. °पूजाइयहं.

२०४. जो अभिषेकादि के समारम्भों को सावद्य (दोष-
अभिषेक में पूर्ण) कहते हैं उन्होंने दर्शन का नाश कर दिया,
दोष नहीं इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

२०५. जो पुद्गल को जीव का साथी गिनकर धन के
निर्विवेक से त्याग की इच्छा करता है उसकी ऐसी सम्मति से
सम्यक्त्वनाश सम्यक्त्व कैसे नहीं जायगा?

२०६. सम्यक्त्व के बिना व्रत भी गये। व्रतों के जाने से
सम्यक्त्वनाश धर्म गया। धर्म के जाते ही सुख भी गया जिसके
से सुखनाश बिना जन्म निष्फल है।

२०७. अभिषेकादि की पुण्यराशि में यदि किसी ने लघु
पुण्यराशि में पाप भी कर लिया तो विष के एक कण से
पापबिन्दु समुद्र भर का जल दूषित नहीं हो सकता।

२०८. इससे सम्यक्त्व रूपी महारत्न को हृदय रूपी
सम्यक्त्व से अंचल में स्थिरता से बांध। उसके साथ, हे जीव,
सिद्धि जहां जहां जायगा, तहां तहां सिद्धि पावेगा।

२०९. जो भोगबंध की इच्छा से धर्मार्जन विधि करता
भोगों की इच्छा है, वह जन्म का अंधा, जानो, उत्तम मणि को
से धर्म कौड़ी मोल बेचता है।

२१०. इसलिये, हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादि से कर्मों
वाञ्छनीय फल के क्षय और निर्मल बोधि समाधि की मांग कर
जिससे शाश्वत पद पर जावे।

पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु ।
कणयलोहणियलइं जियहु किं ण कुणंहिं पयबंधु ॥२११॥

ण हु विग्गासिय दलकमलु ससरु सबिंदु सरेहु ।
वंछिज्जइ इय कप्पयरु कामिउ को संदेहु ॥ २१२ ॥

हियकमलिणि ससहरधवल सुद्ध फलिहसंकास ।
झाइय पडिम जिणेसरहं तोडइ चउगइपास ॥ २१३ ॥
जासु हियइ अ सि आ उ सा पाउ ण ढुक्कइ ताह ।
अह दावाणलु किं करइ पाणियगहिरठियाह ॥ २१४ ॥

जिय मंतइं सत्तक्खरइं दुरियइं दूरहु जंति ।
अह सीहहं गुंजारियइं हरिणउलइं कहिं ठंति ॥ २१५ ॥
विण्णिसयइं अ सि आ उ सा जं वासरि फलु दिंति ।
इक्कसएण वि तं जि फलु सत्तक्खरइं ण भंति ॥ २१६ ॥

गरुडहं भावइं परिणवइ रे जिय जाव हि मंति ।
ताव हि णरु विसघारियउ उट्ठावइ ण हु भंति ॥ २१७ ॥
जिणु गुणु देइ अचेयणु वि वंदिउ णिंदिउ दोसु ।
इउ णियभावहं तणउ फलु जिणह ण रोसु ण तोसु ॥२१८॥

---

१ क. करहिं. २ अ. कमलदल. ३ अ. किं विंजइ. ४ अ. किं. ५ अ. द. जाहिं. ६ क. ज. द. उट्ठावहि.

२११. जिसके मन में पुण्य और पाप समान नहीं हैं उसे
पाप पुण्य की भवसिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की
समता से मोक्ष निगड (शृंखला) प्राणी का पादबन्धन नहीं करती?

२१२. स्वर, बिन्दु और मात्रा सहित सपत्र कमल का
कमलाकार विकाश किये बिना यदि कोई कल्पवृक्ष की वाञ्छा
सिद्धचक्र की पूजा करे तो वह कामी है इसमें क्या सन्देह है?

२१३. हृदयकमल में भाई हुई चन्द्रधवल, स्फटिक के
जिनप्रतिमा की समान शुद्ध, जिनेश्वर की प्रतिमा चतुर्गति के पाश
भावना का फल (बन्धन) को तोड़ती है।

२१४. जिसके हृदय में अ सि आ उ सा हैं उसे पाप
अ सि आ उ सा नहीं लगता। जो गहरे पानी में स्थित है उसका
(पंच-परमेष्ठी) दावानल क्या कर सकता है?

२१५. हे जीव, इस सात अक्षरों के मंत्र से सब पाप
पापनाशक दूर भागते हैं। सिंह की गुंजार में कहीं हरिण
मंत्र कुल ठहर सकते है?

२१६. अ सि आ उ सा का प्रतिदिन दो सौ (जप) जो
जप फल देता है वही फल सौ से भी होता है और
सात अक्षरों से भी। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१७. हे जीव, जब मांत्रिक गरुड़भाव में परिणत हो
मंत्र से जाता है उसी समय वह विष से मूर्च्छित मनुष्य
विषनाश को उठा देता है। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१८. अचेतन भी जिन (प्रतिमा) वन्दने से गुण और
स्वभावानुसार निन्दा करने से दोष देती है। यह अपने भावों का
फल ही फल है। जिन भगवान् को न रोष है न तोष।

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
इंधणकज्जें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेणे ॥ २१९ ॥

दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोसिउ जेण ।
पत्तोलयतग्गंधियहं सुरयणु फोडिउँ तेण ॥ २२० ॥

दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण ।
लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २२१ ॥

दुण्णि सयइं त्तिंसुत्तरइं पढियइं सिवगइं दिंति ।
धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥ २२२ ॥

णयसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं ।
संघहं जाइं समुल्लसहिं ते जिण दिंतु सुहाइं ॥ २२३ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु तउ रिसिगुरु जिणवरदेउ ।
बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउं एउ ॥ २२४ ॥

इय सावयधम्मदोहा समत्ता।

---

१ ज. भ. में यह दोहा नहीं है. २ क. फेडिउ. ३ अ. वावी-सुत्तरइं. ४ ज. सिवसुहु. ५ क. पय. ६ क. जे पाणियपोमाइं; द. पुत्तिपाणियपोमाइं. ७ अ क. ज. द. जाइ. ८ अ. तेम जिणुप्प सहाइ. ९ अ. सिरि° १० क. दिज्जउ पइु.

२१९. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में
मनुष्य जन्म का दुरुपयोग — प्रेरा उसने इन्धन के लिये कल्पतरु को मूल से काट डाला।

२२०. दुर्लभ नरत्व का लाभ पाकर जिसने विषयों में संतोष माना उसने छत्रपट में गांठ देने के लिये (?) उत्तम रत्न को फोड़ डाला।

२२१. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में प्रेरा उसने दुस्तरतरणि नाव को उसका लोहा निकालने के लिये तोड़ डाली।

२२२. ये बीस ऊपर दो सौ दोहे पढ़ने से शिवगति देते
इस ग्रंथ के पढ़ने का फल — हैं। धर्मधेनु अच्छे दोहकों (दुहने वालों) को उत्तम पय (दुग्ध या पद) देती है इसमें भ्रान्ति नहीं।

२२३. नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटमणियों के
सुख की प्रार्थना — किरणरूप पानी के संसर्ग से जिनके कमलरूपी चरण प्रकाशमान हैं वे जिनदेव सुख प्रदान करें।

२२४. दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव
अन्तिम विनति — और बोधिसमाधि सहित मरण, ये भव भव में होवें।

इति श्रावकधर्मदोहा समाप्त।

परिशिष्ट

किसी किसी पोथी में कुछ दोहे अधिक पाये जाते हैं जो प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं। वे यहां उद्धृत किये जाते हैं।

दोहा नं. २२ और २३ के बीच म. प्रति में —

मज्जहु तिजहु भव्वयणु जेण मई विपरीय।
हीणकुलेसु य जोय कही तसथावर उवजंति ॥
परिहरि मांसहु अरि जिय पंचेहिं णासी पसेहि।
तस्सु वि थावर धाइही सम्मोछिय बहु होइ ॥

अनुवाद—हे भव्यजन मद्य को त्यागो जिससे मति विपरीत हो जाती है। वह हीनकुलवालों के योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं।

रे जीव, मांस का परिहार कर। वह पंचेन्द्रिय जीवों के नाश से प्राप्त होता है। उसमें भी त्रस, स्थावर व सम्मूर्छन जीव बहुत होते हैं।

दोहा नं. २८ और २९ के बीच क. प्रति में—

चउ ए इंद्रिय विण्णि छह अट्ठह तिण्णि हवंति।
दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंच हवंति ॥

इसमें जीवभेदों की संख्या दी है। इसके लिये 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' देखिये।

दोहा नं. ३६ और ३७ के बीच क. प्रति में—

उक्तं च–सामान्यतो निशायां च अलताम्बूलमौषधम् ।
गृह्णातु चैव गृह्णन्तु नैव ग्राह्यं फलादिकम् ॥

यह दोहा नं. ३७ के भाव की पुष्टि के लिये अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है ।

दोहा नं. ७६ और ७७ के बीच भ प्रति में—

भरहे पंचमकालहिं ण स्सेणी महव्वयधारी ।
अत्थि अणुव्वयधारी कोडिहिं लक्खेसु कोई ॥

अनुवाद–भरतक्षेत्र में, पंचमकाल में, श्रेणीबद्ध महाव्रतधारी (मुनि) नहीं होते। अणुव्रतधारी भी लाखों करोड़ो में कोई होता है ।

दोहा नं. १८१ और १८२ के बीच क. प्रति में—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्करअम्मभवेहिं ।
सो नरु जम्मोवहिं तरहि इत्थु म भंति करेहि ॥
जो घियकंचनवण्णडइ जिणु ण्हावइ धरि भाउ ।
सो दुग्गइ गइ अवहरइ जम्मि ण ढुकइ पाउ ॥
दुद्धें जिणवरु जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण ।
सो संसारि ण संभवइ मुच्चइ पावमलेण ॥
दुद्धअडाखढि उत्तरइ दहवड दहिउ पडंति (°तु) ।
भवियहं मुच्चइ कलिमलहं जिणदिट्ठउ विहसंतु ॥
सव्वोसहि जिणण्हाहियइं कलिमलरोय गलंति ।
मणवंछियसय संभवहिं मुणिगण एम भणंति ॥

अनुवाद–जो जिन भगवान् को शक्कर और आम्रके उत्तम रसों से नहलाता है वह नर जन्मोदधि को तरता है इसमें भ्रांति मत करो.

जो कंचनवर्ण घृत से जिन भगवान् को भाव धारण कर नहलाता है वह दुर्गति गति को दूर करता है और जन्मभर उसे पाप नहीं लगता।

जो मुक्ताफल के समान धवल दूधसे जिनवर को स्नान कराता है वह संसार में उत्पन्न नहीं होता और पापमल से मुक्त होजाता है।

दुध की धार के पश्चात् शीघ्र दधि पड़ता हुआ तथा जिन भगवान् को देखकर प्रसन्न होता हुआ भव्यों को कलिमल से मुक्त कर देता है।

सर्वौषधि से जिन भगवान् को नहलाने से कलिमल के रोग दूर हो जाते हैं और सैकड़ों मनोवाञ्छित सिद्ध होते हैं। ऐसा मुनिगण कहते हैं।

दोहा नं. २०६ और २०७ के बीच अ. प्रति में—

पारंभई ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति।
दंसण तेहं विणासियउ एत्थु ण कायउ भंति॥

(यह दोहा नं. २०४ से मिलता है)

दोहा नं. २२३ और २२४ के बीच क. प्रति में—

जो जिण सासण भासियउ सो मई कहियउ सारु।
जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥
एहु धम्म जो आयरइ चउवण्णइं मह कोइ।
सो णरु णारी भव्वयणु सुरयइ पावइ सोइ॥

काइं बहुलइं झंखियइं तालु सूकइ जेण ।
यहु परमक्खरु धेर कइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥
भव्वयलग्गा सुवयण सुग्गइ गच्छइ तेण ।
अह दिट्ठियउ भवपयह कहिउ ण किज्जउ तेण ॥

अनुवाद्–जो जिनशासन में कहा गया है वही सार मैंने कहा है। जो भाव करके इसको पालेगा वह तैर के पार पावेगा।

इस धर्म का चतुर्वर्ण में से कोई भी जो आचरण करेगा वह नरनारी भव्यजन सुरगति पावेगा।

बहुत प्रलाप करने से क्या जिससे तालू सूखे। इसी परमाक्षर को चिरकाल तक लेओ जिससे कर्मक्षय होवे।

भव्यों के जो सुवचन है उनसे सुगति को जाता है।-जिससे भवभति को देखना पड़े ऐसे कथन को नहीं करना चाहिये।

दोहा नं. २१४ के पश्चात् क. प्रति में—

इय दोहावद्धवयधम्मं देवसेनै उवदिट्ठं ।
लहु अक्खरमत्ताहीयमीपय सयण खमंतु ॥

अनुवाद्–इति देवसेन द्वारा उपदिष्ट दोहाबद्ध मतधर्म। लघु अक्षर मात्रा से हीन जो पद हों उन्हे सज्जन क्षमा करें।

शब्दकोश

इस कोष मे संज्ञायें बिना विभक्ति के तथा क्रियायें यथाप्रयोग सम्मिलित की गई है और उनके संस्कृत रूपान्तर दिये गये है। जो संस्कृत शब्द हिन्दी मे उपयुक्त नही होते उनके हिन्दी रूपान्तर या समानार्थ शब्द दे दिये गये हैं। जो शब्द कईबार एक ही अर्थ में आया है उसका एक ही दोहा नंबर दिया गया है।

निम्न लिखित संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है:—

गु. – गुजराती; पु – पुरुष; म. – मराठी; मार. – मारवाडी; हेम – हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण

अ

अइदित्त – अतिदीप्त, १७२.

अइदूरुज्झिय – अतिदूरोज्झित, १७१.

अक्खमि – आख्यामि, कहता हूं, १.

अक्खय – अक्षत, १८५.

अक्खिय – आख्यात, १७८.

अगालिअ – अगालित, बिनाछना, २७.

अगाह – अगाध, १८६.

अग्गि – अग्नि, आगी, ३९.

अचेयण – अचेतन, २१८.

अच्चइ – अर्चयति, पूजता है, १८५

अच्छउ – आस्ताम्, दूर रहे, ३०.

अज्जु – अद्य, आज, ८८.

अज्झवसाय – अध्यवसाय, १२२.

अट्ठ – अष्ट, आठ, २०.

अट्ठम – अष्टम, आठवां, १५.

अट्ठमि – अष्टमी, १३.

अणतोरिय – अ+तुवरित, ५६.
(तुवरी - फिटकरी, म. तुरटी, alum.)

अणत्थ – अनर्थ, ४८.

अणाअ – अन्याय, १४४.

अणबोल्लिय – अनुक्त, बिना बुलाया, ११५.

अणायतण – अनायतन, ७०. (कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, तथा इन तीनों के पूजने वाले ये छह अनायतन कहलाते हैं.)

अणिवारिय – अनिवारित, १२२.

अणुमइ – अनुमति, १६.

अणुराअ – अनुराग, २७.

अणुवय – अणुव्रत, ५९ (हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह इनका गृहस्थ के सधने योग्य अणुरूप त्याग को अणुव्रत कहते है.)

अणुसरहिं – अनुसरन्ति, अनुसरण करते हैं, ११७.

अण्ण – अन्य, ३५.

अण्णाअ – अन्याय, १४५.

अण्णायपवित्ति – अन्याय+प्रवृत्ति १४६.

अण्णुवइट्ठ – अन्य+उपदिष्ट, २४.

अत्तागम – आप्त + आगम, देव और शास्त्र, १९.

अत्थमिय – अस्तमित, सूर्यास्त, ३७.

अपत्त – अपात्र, ७८.

अप्पणअ – आत्मनः, अपना, ८४.

अप्पणिय – आत्मीय, अपनी, १४६

अप्पत्थ – अपथ्य, ४१.

अप्पिय – अर्पित, ८४.

अभयदाण – अभयदान, १५६.

अमिअ – अमृत, २.

अमियघड – अमृत+घट, १६८.

अमियसरिस – अमृतसदृश १७८

अयाण – अजानत्, अजान १५७.

अरहंत – अर्हत्, ४.

अलिय – अलीक, असत्य, ६१.

अलिय – अलि (भ्रमर), अलीक (असत्य), १७३.

अवगण्णि – अवगणय, गिनो, २०

अवर – अपर, और, ११९.

अवस – अवशम्, अवश्य, ३९.

अवसि – अवशम्, अवश्य, ६०.

अविण – अविन, पार, १००.

अविरय – अविरत, व्रतरहित, ७९

असक्क – अशक्त, १६८.

असिआउसा – अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन पंच परमेष्ठी का अल्पाक्षर मंत्र, २१४.

असेस – अशेष, १६५.

असोअ – अशोक (वृक्ष), १७१.

अह – अथ, २६

अह व – अथ वा, ६

अहम्म – अधर्म, अधर्मी, १०३.

अहाणअ – आभाणक, अहाना, २४

अहिलसइ – अभिलषते, इच्छा करता है, ४२.

अहिलसिअ अभिलषित, ३७

अहिलास – अभिलाष, ५१

अंजणगिरि – अंजनगिरि २९.

अंतरि – अन्तरे, अन्दर, २२.

अंधार – अंधकार, ६.

अंब – आम्र, आम, १६०.

आ

आउ – आयातु, आवे, ५८.

आउसंत – आयुस्+अन्त, ७३.

आमिस – आमिष, मास, २८.

आयरइ – आचरति, आचरण करता है, ७६.

आयहं – एषाम्, इनके, २२.

आयास – आकाश, ५७.

आरत्तिअ – आरात्रिक, आरती, १९५.

आराहण – आराधना, १९३. (भगवती आराधना नाम का ग्रंथविशेष)

आवइ – आयाति, आवे, ८८.

आवग्ग – आरूढ, बढा, १४८.

आवंति – आयान्ती, आती, १४५.

आसागय – आशा+गत, दिशागमन, ६६.

आसायअ – आस्वादित, २३.

आसि – आसीत्, १५६.

इ

इकछिद्दिय – एक+छिद्रित, १६१.

इक – एक, ४३.

इक्कसअ – एकशत, २१६.

इच्छिय – इष्ट, १९०.

इच्छियलद्धि – इष्ट+लब्धि, ७१.

इणि – अनेन, इस से, २०५.

इत्तिय – इयत्, इतना, १०७.

इत्थु – अत्र, इसमें, ७१.

इयर – इतर, अन्य, ३८.

इंछिय – इष्ट्वा, इच्छा करके, ६१.
इंदियगाम – इन्द्रिय+ग्राम, १४०.
इंधण – इन्धन, २१९.

उ

उक्किट्ठ – उत्कृष्ट, ७४.
उग्गमइ – उद्गच्छति, उदय हो, १०५.
उग्घाडंत – उद्+घाटयत्, उघाड़ने वाले, १३५.
उज्जल – उज्वल, ११३.
उज्जोइज्जइ – उद्+द्युत्यते, उजाला किया जाता है, १८४.
उज्जोयइ – उद्+द्योतयति, उजाला करता है, १९६.
उट्ठइ – उत्तिष्ठति, उठता है, ३९
उट्ठावइ – उत्थापयति, उठाता है, २१७.
उट्ठिय – उत्थित, उठा हुआ, १५३.
उणाली – शाकविशेष, ३४.
उण्णय – उन्नति, ११४.
उत्तमपइ – उत्तमपदे, °पदपर, ११४.
उत्तार – उत्तरण, उतार, १९२.
उत्तारंति – उत्तारयन्ती, उतारती हुई ८६.
उत्तिडअ – उत्तरीय, वस्त्र, १५१.
उद्दिट्ठ – उद्दिष्ट, १६.
उप्पज्जइ – उत्पद्यते, उपजता है १७१
उप्परि – उपरि, ऊपर, १२६.
उप्पहिं – आत्मना, उपतकर ८४.
उप्पाडिअ – उत्पाटित, उपाड़ा, ४०.
उब्भासइ – उद्+भासयति, उज्वल करता है १९६.
उम्मग्ग – उन्मार्ग, १४५.
उर – उरस्, उर, ६०
उल्हाविअ – आर्द्रित, आला (गीला) किया, ३९.
उवइट्ठ – उपादिष्ठ, १६.
उवएस – उपदेश, ६.
उवएसिय – उपदिष्ट ८.
उवयरइ – उपकरोति, उपकार करता है, ११९.
उवयारहि – उपकारय, उपकार कराओ, ११९.
उववास – उपवास, १३.
उववासब्भास – उपवास+अभ्यास ११३.

उवसमइ उपशाम्यति, शांत होता है, १४२.

उवहि – उदधि, २०७.

उवहिणीर – उदधि+नीर, ८९.

उवहिवेल – उदधि+वेला, १९५.

उव्वरइ – उपकरोति, उबारता है, या,उद्वर्तते, बचता है, १२१.

उहय – उभय, दोनो, १३.

उंदुर – उंदुरु, मूषक, १५१.

ऊ

ऊसर – ऊषर, ऊसर (अनुपजाऊ) ८३.

ए

ए – एते, ये, १८.

एउ – एतत्, यह, २२४.

एक्क – एक, १०.

एत्तडअ – एतावत्, इतने, ५३

एयवत्थ – एकवस्त्र, १७

एयारस – एकादश ग्यारह, १८.

एयारह – एकादश, ग्यारह, ९

एयारहम – एकादशम, ग्यारहवां १६.

एरिस – ईदृश, ऐसी, १७५.

एवडु – एतावत्, इतनी १७९.

एवंविह – एवंविध, इस प्रकार, १८०.

एह – एषा, यह, १७९.

एहु – एष:, यह, २४.

ओ

ओसहदाण – औषधदान, १५७

ओहट्टइ – अपभ्रश्यते, हटता है, १४९.

क

कअ – कृत, किया, ८३.

कउ – का, क्या, ६८.

कक्कसवयण – कर्कश+वचन,१४४

कच्च – काच, कांच, २.

कच्चासण – अपक्काशन, कच्चा भोजन, १४.

कज्ज – कार्य, २१.

कट्टिय – कृत्त, काटा गया, १५०.

कट्ठ – काष्ठ, काठ, ३८.

कट्ठडा – कष्ट, ११४.

कड्ढंत – कर्षत्, काढनेवाला, ९९.

कड्ढिय – कृष्ट, काढा या खींचा, १२१.

कणय – कनक, २११.

कणिट्ठ – कनिष्ठ, सबसे छोटा ७९.

कण्ण – कर्ण, कान, ११८.

कत्तरि – कर्तरी, कैंची, १७.

कद्दम – कर्दम, कीच, १५३.

कप्पड – कर्पट, कपड़ा, ५६.

कप्पयर – कल्पतरु, ९७.

कप्पयरु – कल्पतरु, २१२.

कम – क्रम, १२.

कम्म – कर्म, १०९.

कम्मक्खअ – कर्म+क्षय, २१०.

कय – कृत १७.

करइ – करोति, करता है, १८१.

करउं – करोमि, करूं, ८८.

करड – शाकविशेष, करडा, ३४.

करहि – कुरु, कर, ४

करहिं – कुर्वन्ति, करते है, ५५

करालिय – करालित, १८३

करि – कुरु, कर, २२.

करिणि – करिणी, हस्तिनी,१२३

करेइ – कुर्यात्, करेगा, ६२.

कलंतर – कला+अन्तर, एक भाग ११५.

कलिंग – फलविशेष, कलींदा, ३४.

कल्लाण – कल्याण, ८०.
[तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के उत्सव पंच कल्याण कहे जाते हैं ।]

कल्लि – श्वः, कल, ८८.

कवण – का, कौन, ४०.

कवित्त – कवित्व, १४२.

कवेडअ – कपट, ६२.

कस – कश, ७.

कसाय – कषाय, ६१.

कह – कथा, ४०.

कहिअ – कथित, ९.

कहिवि – कथयितुम्,कहने,२०१.

कहिं – कुत्र, कहीं, २१५.

कंज – (तत्सम), कमल, १२५.

कंजिय – कांजी, (Butter-milk,) १३३.

कंटअ – कंटक, १४५.

कंदि – स्कन्न, शुष्क, सूखा, १५७.

काअ – काय, शरीर, ११३.

काइं – किम्, क्या, ६२.

काणण – कानन, वन, २३.

कामकह – काम+कथा, ४५.

कामिअ – कामिक, २१२.

खज्जइ – खादति, खाता है, ३२.

खज्जइं – खादितेन, खानेसे, ३६.

खम – क्षम, योग्य, ७.

खंचहि – कर्ष, खेंच, १३०.

खंडिय – खंडित, कटा, २१९.

खंडिवि – खंडयित्वा, काटकर, १५२.

खंधार – स्कधावार, सेना, ५१.

खाइ – खादति, खाय, २८.

खाणि – खानि, ४८.

खार – क्षार, खार, ८१.

खारघड – क्षार+घट, खारा घड़ा, ८१.

खिल्लिय – कीलिका, खिल्ली, १०६

खीरसमुद्द – क्षीरसमुद्र, १६९.

खुट्टइ – खुभ्यते, खुँटै, १०८.

खुडिय – खुडित, खोंटे गये, १५२

खेत्तिय – क्षेत्रिता, खेती, ६४.

खेत्ती – क्षेत्रिता, खेती, ५५.

खेरि – द्वेष, १७५.

खेवइ – क्षिपति, खेता है, १८९.

खोज – अन्वेषण, खोज, ८४.

खोडय – खुडित, खोड़ा लगी, १४८.

ग

गअ – गत, गया, ६१.

गच्छइ – गच्छति, जाता है, ४६.

गड्डायरअ – गर्तक, ५८. (a table for playing dice, Apte: Dic.)

गणिय – गणयित्वा, गिनकर,२०५

गमणट्ठिय – गमन+स्थित, १९२.

गय – गत, ३.

गय – गज, १४७.

गयण – गगन, १३३.

गविणिट्ठ – गवि+निष्ठा, इन्द्रिय+ आसक्ति, १६४.

गह – ग्रह, १९८.

गहिय – गृहीत, १७७.

गहिर – गभीर, गहिरा, २१४.

गंधोअ – गंधोदक, १८४.

गाइ – गौ, गाय, ९२.

गाल – गल, मछली फकड़ने का कांटा, १२४.

गालिअ – गालित, गाला या छना हुआ, २६.

गिण्हइ – गृण्हाति, गहता है,१६२.

गिर – गिर्, गिरा, वाणी, १७८.

गिहत्थ – गृहस्थ, ८७.
गिंदुअ – कंदुक, गेंद, १५३.
गिंभ – ग्रीष्म, ६९.
गुणवय – गुणव्रत, ११ (दिशाओं व देश-प्रदेश में जाने का प्रमाण, तथा अनर्थ दण्ड का त्याग, ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं).
गुणवंत – गुणवत्. गुणवान,१४१.
गुलिय – गुलित, गुडीला (मीठा) १३३.
गुंजारिय – गुंजारित, गुंजार, २१५.
गेय – (तत्सम), गीत, १२७.
गेहोवरि – गेह+उपरि, १०२.
गोल्ल – गोल, ४८.
गोवहि – गोपय, गोप या गुप्त रख, १२१.

घ

घडंति – घटायन्ते, घटयुक्त होते हैं, ९९.
घम्म – घर्म, घाम, १०३.
घयपय – घृत+पयस्, घी दूध, १८१.
घर – गृह, ८७.
घरयर – गृहकर, घर बनाने वाले, १०२.
घल्लइ – क्षिपति, घालता है, १६९.
घंट – घंटा, १९९
घाअ – घात, घाव, ६०.
घाणिंदिय – घ्राणेन्द्रिय, १२५.
घाय – घात, ७.
घारइ – मूर्च्छयति, मूर्च्छित करती है, ५०, म. घेरी मूर्च्छा.
घिय – घृत, घी ३२.
घूयड – गुग्गुल, घुग्घू. १०५.

च

चइवि – व्यक्त्वा,चयकर या त्याग कर, ७३.
चउगइ – चतुर्गति, १३४.
चउत्थ – चतुर्थ, १३.
चउद्दसि – चतुर्दशी, १३.
चउरट्ठ – चतुरष्ट, (बत्तीस),१२.
चउविह – चतुर्विध, १५८.
चउसट्ठि – चतुःषष्ठि, चौसठ, १७६
चक्कि – चक्रिन्, चक्रवर्ती, १७७.
चक्खइ – चषति, चखता है, १६०
चच्चइ – अर्चयति, पूजता है, १८४
चडप्फडहि – परिस्फुरति, तड़फड़ात है, १८४.

चडप्फाडवि – परिस्कुर्य, तड-फडाकर, १२४.

चढहिं – आरोहन्ति, चढते हैं, १०२

चत्तारंभ – त्यक्त+आरम्भ, आरम्भत्यागी, १५.

चम्मच्छअ – चर्माच्छादित, ३२.

चम्मट्ठिसुर – चर्म+अस्थि+सुरा, ३३.

चयारि – चत्वारि, चार, ११.

चरिअ – चरित, १३३.

चरित्त – चरित्र, २२४.

चलण – (तत्सम), चरण, १७३.

चलिय – चलित, ३५.

चल्लंत – चलत्, चलनेवाला, १४५.

चवहि – ब्रूहि, बोल (धातु-वच्) ६१.

चंडाल – चाण्डाल, १३१.

चंदकंति – चन्द्रकान्त (मणि), १९७.

चंदण – चन्दन, १५०.

चंदोव – चन्द्रोपक, चंदेवा, १९८.

चाअ – त्याग, २५.

चाहहि – इच्छसि, चाहता है, १५९

चिराउस – चिरायुस्, चिरायु, १५६.

चिहुर – चिकुर, केश, १७.

चिंध – चिह्न, ध्वज, २००.

चोज्ज – आश्चर्य, चौज, २००.

चोरडा – चौर, चोर, ७५.

छ

छट्ठय – षष्ठम, छटवां, १४.

छड्डिय – छर्दित, छोड़ा, ३९.

छणजामिणि – क्षण+यामिनी, पूर्णिमा रात्रि, १९९.

छणससि – क्षण+शशि, पूर्णिमा चन्द्र, १७७.

छत्त – छत्र, १७७.

छह – षट्, छह, २०

छंडहु – छर्दय, छोड़ो, १७५.

छंडि – छर्दय, छोड़, ६७.

छंडिय – छर्दित, छोड़ा, २५.

छंडेइ – छर्दयेत्, छोड़े, ९३.

छिज्जउ – क्षीयताम्, क्षय होवे, १३५.

छित्त – स्पृष्ट, छुआ, १३१.

छुडु – यदि, ५८.

छेय – छेद, ७.

ज

जइ – यदि, २५.

जग – जगत्, जग, १९४.
जणणि – जननी, १६७.
जमभड – यम+भट, ८८.
जम्म – जन्म, ९३.
जम्मुच्छव – जन्मोत्सव, १६८.
जलहि – जलधि, ८५.
जस – यशस्, यश, ४८.
जसु – यस्य, जिसका, ५.
जह – यथा, जैसा, २१.
जहण्ण – जघन्य, ७४.
जहिं – यत्र, जहां, ५४.
जं – यत्, जो, ४.
जंति – यान्ति, जाते है, ८.
जंपिय – जल्पित, कथित, १०४.
जंबूदीअ – जम्बूद्वीप, २०२.
जाअ – यात, गया, ५८.
जाउ – यातु, जाय, २०५.
जाच्चंध – जात+अंध, २०९.
जाण – यान, १०२.
जाणहु – जानीहि, जानो, २०९.
जाणि – जानीहि, जानो, १५.
जाणिज्जइ – ज्ञायते, जाना जाता है, २७.
जायइ – जायते, होता है, ६६.
जाहि – याहि, जाय, २०८.
जिअ – जीव, ५९.
जिणणाह – जिननाथ, १८६.
जिणतित्थ – जिनतीर्थ, ११७.
जिणहर – जिनगृह, १९९.
जिणिंद – जिनेन्द्र, १९०.
जिणेसर – जिनेश्वर, १७२.
जित्त – जित, जीता, ५१.
जिब्भिंदिय – जिह्वेन्द्रिय, १२४.
जिम – यथा, जैसे, २.
जिय – जीव, ४.
जियगहियतण – जिह्वा+गृहीत+ तृण, ४६.
जियवह – जीव+वध, ६६.
जिह – यथा जैसे, ३.
जीवियलाहड – जीवित+लाभ, ११९.
जीहडी – जिह्वा, जीभ, ११९.
जुग्ग – योग्य, ३१.
जुत्त – युक्त, ३०.
जूअ – द्यूत, जुवा, ३८.
जूय – युग, जुंवा (Yoke), ३.
जे – ये जो, २०.
जेण – येन, जिसने, २.

जोम — यथा, जैसे, ११४.

जोक्खिय — योजित, जोडे हुए, ११४

जोयहिं — पश्यन्ति, जोहते है, ११८

झ

झायहि — ध्याय, ध्यान कर, १०८

झुणि — ध्वनि, १७८.

ट

टालइ — टालयति, भ्रम करता है, १५१.

टिक — टीका, १९३.

ठ

ठंति — तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५४,

ठाअ — स्थान, ठांव, १६९.

ठाइ — तिष्ठति, ठहरता है, १९७.

ठाण — स्थान, १८.

ठाहरइ — तिष्ठति, ठहरता, १२२.

ठिअ — स्थित, १३२.

ठिय — स्थित, २१४.

ड

डज्झंत — दह्यमान, जलते हुए, ५२.

डरहि — त्रस्यसि, डरता है, १५६.

डल — दल, पीतल आदि नीच धातु, १२६.

डहइ — दहति, जला देता है, ९२.

डाल — शाखा, डाल, ६१; ९५.

ढ

ढिल्ल — शिथिल, ढीला, १२९.

ढुक्कइ — ढौक्यते, आवे, ६०; ११२; १८७.

ण

ण — न, १०.

ण — नु, ननु (निश्चयार्थवाचक अव्यय) ८४, ११०, १४२, १९२, १९६.

णइसारिच्छ — नदी+सादृश्य, १८६.

णच्चइ — नृत्यति, नाचता है, १६२.

णडपेक्खण — नट+प्रेक्षण, नट का तमाशा, १६२.

णमकारेप्पिणु — नमस्कृत्य, नमन करके, १.

णमिय — नमित, नवी हुई, ५७.

णय — नत, २२३.

णयणाणंदयरि — नयनानन्दकारिणी, १७९.

णर — नर, ४४.

णरत्तणय — नरत्व, २२०.

णरय — नरक, ४२.

णरयगइ — नरकगति, १९१.

णवइ – नमति, नवता है, ११६.
णवम – नवम, नौमां, १५.
णं – ननु, २७.
णंद – नन्द, आनन्द, १३७.
णंदीसर – नन्दीश्वर (द्वीप) २०२.
णाअ – न्याय, ११३.
णाइक – नायक, ५१.
णाण – ज्ञान, ७.
णाणुग्गम – ज्ञानोद्गम, १७०.
णाय – नाग, १७७.
णायकुमार – नागकुमार, पु, १११.
णायदत्त – नागदत्त, पु, १११.
णारि – नारी, १४.
णाव – नौ, नाव, १५४.
णाविय – नाविक, १५४.
णास – नाश, १८७
णासइ – नाशयति, नाश करता है, २३.
णासंति – नश्यन्ति, भाग जाते हैं, ७५.
णासंति – नश्यन्ति, नष्ट होते हैं, १३८.
णा हि – न हि, १४.
णाही – न हि, म. नाही, ११०.
णिक्कमण – निष्क्रमण, १६९.
णिग्गय – निर्गत, २००.
णिच्चल – निश्चल, ५८.
णिच्छाअ – निश्छाय, निष्प्रभ, १४०.
णिट्ठ – निष्ठा, ५५.
णिट्ठुडी – निष्ठा, ११५.
णिद्धण – निर्धन, ११४.
णिप्फल – निष्फल, ५५.
णिम्मल – निर्मल, ११.
णिय – निज, २१८.
णियर – निकर, समूह, १९४.
णियल – निगड, शृंखला, २११.
णियलंकुस – निगड+अंकुश, १२३.
णियसत्ति – निजशक्ति, १२१.
णिरग्गल – निरर्गल, १३५.
णिरत्थ – निरर्थ, ११९.
णिरारिउ – निश्चयेन, ४६.
णिलज्ज – निर्लज्ज, १५९.
णिवडइ – निपतति, गिरेगी, १५४.
णिवडंति – निपतन्ति, गिरते हैं, १७३.
णिवडिय – निपतित, ८१.

णिवसइ – निवसति, बसता है, ५४.

णिवारहि – निवारय, निवार, १२६.

णिवास – निवास, १४३.

णिविट्ठ – निविष्ट, बैठा, ६१.

णिवित्ति – निवृत्ति, १०.

णिव्वाण – निर्वाण, ५९.

णिव्वाह – निर्वाह, १४९

णिसेणि – निश्रेणी, नसेनी, ५०.

णिहाण – निधान, ८०.

णिंत – नयत्, ले जाता हुआ, ८५.

णिंति – नयन्ति, ले जाते है, ५९.

णिंदिअ – निन्दित, २१८.

णीर – नीर, पानी, २६.

णीरुक्ख – निर्वृक्ष, ७७.

णेह – स्नेह, १५१.

णेवज्ज – नैवेद्य. १८७.

ण्हवणाइय – स्नपनादिक, २०४.

ण्हविज्जइ – स्नाप्यते, नहलाया जाता है, १८१.

ण्हाण - स्नान, १३१.

ण्हावइ - स्नापयति, नहलाता है, १८१.

ण्हाविज्जइ – स्नाप्यते, नहलाया जाता है, १६८.

ण्हाविय – स्नापित, नहलाया गया, १६८.

ण्हाविय – स्नापयित्वा, नहलाकर, १८२.

त

तउ – तपस्, तप, ७.

तउमंडय – तपोमंडित, ३१.

तग्गंथिय – तद्+ग्रन्थि, गांठ, २२०.

तच्चाइय – तत्त्व+आदिक, १८.

तडत्ति – तट् इति शब्देन, तड् से, १००.

तणइ – (सम्बध सूचक), २०५.

तणु – तनु, शरीर, १०७.

तमहराणि – तमोहारिणी, १९९.

तमिण – तमसा, तम से, २.

तरइ – तरति, तरता है, १३४.

तरिहहि – तरिष्यसि, तरेगा, ६७.

तरंड – (तत्सम), डोंगी, १९२

तलाअ - तडाग, तलाव, १७०.

तवयरण – तपश्चरण, ७३.

तस – त्रस (जंगम जीव), २२.

तसु – तस्य, जिसके, ३२.
तहा – तस्मात्, तिससे, १०१.
तहिं – तत्र, तहां, ५४.
तं – तत्, तिसे, १९.
तंबोलोसह – ताम्बूल+औषध, ३७
ता – तर्हि, तो, ३९.
ताइं – तानि, ते, ५९
ताडिअ – ताडित, १५३.
तामच्छउ – तावत् आस्ताम्, तो रहे, ३१.
तारइ – तारयति, तारता है, ८४.
तारायण – तारागण, १९८.
ताल – वृक्षविशेष, १०३.
तासु – तस्य, ५.
ताहं – तेषाम्, तिनके, ३०.
तिज्जअ – तृतीय, तीजा, १२.
तिडिक – स्फुलिंग, तिलगा, २३.
तिण्णि – त्रीणि, तीन, २०.
तित्थु – तत्र, तहां, ११९.
तित्थंकर – तीर्थंकर, १६६.
तिरिय – तिर्यक्, पशु, १७५.
तिलय – तिलक, १९७.
तिल्लु – तैल, तेल, ३२.
तिव्वकसाय – तीव्रकषाय, १६१.

तिह – तथा, तैसे, ३.
तिहिं मि – त्रिषु अपि, तीनों में, १२
तिहिं – त्रिभ्याम्, तीन से, ७४.
तुट्ट – त्रुटित, टूटे, १५२.
तुट्टइ – त्रुट्यति, टूटता है, ७४.
तुडइ – त्रुट्यति, बिगड़ जाता है, १३१.
तुलाइय – तुला+आदिक, ४९.
तुंबड – तुम्बीफल, तूंबा, ३४.
तोडइ – त्रोटयति, तोड़ती है, २११.
तोडहुं – त्रोटयितुम्, तोड़ने को, ६४.
तोस – तोष, २१८.
तोसिअ – तोषित, २२०.

थ

थक्कइं – तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५३.
थलदुक्ख – स्थल+दुख, १२४.
थाम – स्थामन्, बल, १८३.
थिप्पंति – तृप्यन्ति, तृप्त होते हैं, या विगलन्ति, १७ (हेम. ४, १३८; १७५)
थिर – स्थिर, २०८.
थोडउ वि – स्तोकमपि, थोड़ा भी, २३.
थोडिय – स्तोका, थोडी, १३३.
थोवड – स्तोक, थोड़ा, ९०.

द

दड्ढ – दग्ध, जला हुआ, ६२.

दम्म – द्रम्म, एक सिक्का, ११५.

दय – दया, ४०.

दसम – दशम, दसवां, १६.

दहिमहि – दधि + मथित, दही मही, ३५.

दंसण – दर्शन (सम्यग्दर्शन, धर्म-श्रद्धा), २०.

दंसणसुद्धि – दर्शन+शुद्धि, ३२.

दाण – दान, ७०.

दाणच्चण – दान+अर्चन, ११७.

दाणंघिव – दान+अंघ्रिप, दानवृक्ष, ८२.

दायार – दातृ, दाता, ८५.

दारिय – दारिका, लौंडी, ४५.

दालिद्द – दारिद्र्य, १८७.

दालिद्दय – दारिद्र्य, ९१.

दालिद्दिय – दरिद्रिन्, दरिद्री, १४८.

दावाणल – दावानल, २१४.

दिज्जइ – दीयताम्, देना चाहिये, ७०.

दिट्ठ – दृष्ट, देखी गई, ५५.

दिट्ठि – दृष्टि, ६३.

दिट्ठिविस – दृष्टिविष (सर्प-विशेष), ६३.

दिणयरसअ – दिनकर+शत, सौ सूर्य, १०५.

दिणेस – दिनेश, सूर्य, ६९.

दिण्ण – दत्त, दिया हुआ, ८३.

दिण्णइ – दीयते, दिया जाय, ८१.

दिंति – ददति, देते हैं, १९०.

दिवि – (तत्सम) स्वर्ग में, १११.

दिव्वंबर – दिव्य+अम्बर, २०३.

दिस – दिशा, ६१.

दीव – दीप, १८८.

दीवय – दीपक, ६.

दीसइ – दृश्यते, देखी जाती है, ८५.

दुक्कर – दुष्कर, ६४.

दुक्किय – दुष्कृत, ११.

दुग्ग – दुर्ग, दुर्गम, १४८.

दुज्जण – दुर्जन, २.

दुद्धभरण – दुग्ध+भरण, ६७.

दुण्णिसयइं – द्वि+शत, दो सौ, १२२.

दुत्तर – दुस्तर, २११.

दुत्तरतरणि – दुस्तर+तारिणी, १२३.

धूम – धूम्र, धुंआ, १९.

धूव – धूप, १८९.

प

पइठावइ – प्रतिष्ठापयति, प्रतिष्ठा कराता है, १९५.

पइण्णइ – प्रदीयते, दिया जाता है, ९२.

पइसंत – प्रविशत्, प्रवेश करता हुआ, ४४.

पइं – तुभ्यम्, तुमको, ११२.

पइं – त्वया, तूने, १५५.

पउम – पद्म, कमल, १८.

पउमिणि – पद्मिनी, २०३.

पउर – प्रवर (उत्तम), या, प्रचुर (बहुत), ९४.

पएस – प्रदेश, ५४.

पक्कासण – पक्वाशन, ३१.

पच्चक्खउ – प्रत्यक्षम्, ३३.

पच्चूस – प्रत्यूष, प्रातःकाल, १४०.

पट्टोलय – पट्ट+उल्लोच, कपड़ेका छत, २२०.

पडंति – पतन्ति, पड़ते हैं, ५७.

पडिअ – पतित, ६७.

पडिकूल – प्रतिकूल, १०४.

पडिबद्ध – प्रतिबद्ध, बांध लिया, १८९.

पडिम – प्रतिमा, १९२.

पढम – प्रथम, १०.

पढिय – पठित, २२२.

पणास – प्रणाश, ५४.

पणासइ – प्रणाशयति, नष्ट करती है, १८३.

पत्त – पात्र, ३१.

पत्त – पत्र, पत्ता, ४५.

पत्त – प्राप्त, ८४.

पत्तामरसंघाअ – प्राप्त+अमर+संघात, देवों का समूह आया, १७०.

पत्तुत्तम – पत्रोत्तम, १७१.

पभणिअ – प्रभणित, कहा गया, ७९.

पभणिज्जइ – प्रभण्यते, कहा जाय, ८७.

पमाअ – प्रमाद, ६१.

पमाण – प्रमाण, ५.

पमुह – प्रमुख, ४७.

पय – पद, १८३.

पय – पद, किरण, १९६.

पसुमार – पशुमार, ६७.

पसुइ – प्रसूति, १८५.

पहतेअ – प्रभा+तेज, १६७.

पहाण – प्रधान, २७.

पहिल – प्रथम, पहला, १७.

पंखि – पक्षिन् , ८७.

पंचगुरु – अर्हत् , सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु,ये पंचगुरु या पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, १.

पंचाणुव्वय – पंच+अणुव्रत, ११. (गृहस्थों के पालने योग्य अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रहप्रमाण).

पंचुंबर – पंच+उदुम्बर, १० (वट, पीपल, पाकर, ऊमर और कटूमर)

पंडिय – पाण्डित्य, १५९.

पंडुर – पाण्डुर, श्वेत, १७७.

पाअ – पाद, पांव, १४५.

पाअ – पाप, २०७.

पाण – प्राण, ५०.

पाणिअ – पानीय, पानी, ८९.

पाणिय – पानीय, पानी, १८.

पाय – पाद, पांव, ११७.

पायड – प्रकट, ६.

पायपसारण – पाद+प्रसारण, पांव पसारना, १४९.

पारद्धि – पापर्द्धि, शिकार, ४७.

पारद्धिअ – पापर्द्धिक, पारधी, ४६.

पारोह – प्ररोह, २००.

पालिअ – पालित, ६६.

पाव – पाप, १०१.

पावइ – प्राप्नोति, पाता है, १८१.

पावमइ – पापमति, १०६.

पावहरि – पापहारिणी, १९९.

पाविय – पापिन् , पापी, १६५.

पावियइ – प्राप्यते, पाया जाता है, ९२.

पास – पाश, खेलने के पांसे, ६८.

पास – पाश, बन्धन, २१३.

पासट्ठिय – पार्श्वस्थित, १७६.

पिच्छइ – प्रेक्षते, देखती है, १६७.

पिंड – पिण्ड, ८.

पिय – पीत, पिया, २७.

पियइ – पिबति, पीता है, २६.

पिसुण – पिशुन, १५१.

पिसुणत्तण – पिशुनत्व, १४४.

पिसुणमइ – पिशुनमति, १५०.

पिछइ – परिछिनत्ति, पहिचानता है, ६.

पीय – पीत, पिया, ३२.
पुग्गल – पुद्गल, शरीर, २०५.
पुच्छिज्जइ – पृच्छयते, पूछा जाय, १२८.
पुच्छिय – पृष्ट, १६.
पुज्ज – पूजा, १५९.
पुट्ठि – पृष्ठ, पीठ, ९१.
पुट्ठिमंस – पृष्ठमांस, ४१.
पुणु – पुनः ९.
पुण्ण – पुण्य, २३.
पुण्णरासि – पुण्यराशि, २०७.
पुत्त – पुत्र, १२०.
पुरिस – पुरुष, १४२.
पुव्व – पूर्व, पहले, १५४.
पुव्वाइरिय – पूर्वाचार्य, १२.
पुंडरिय – पुण्डरीक, छत्र, १७७.
पूजाइय – पूजादिक, २१०.
पूरहिं – पूरयन्ति, पूरा करते है, ९७.
पेक्खइ – पश्य, देखो, ५२.
पेक्खि – पश्य, देखो. १३४.
पेरिअ – प्रेरित, २१९.
पेसिअ – प्रेषित, २०३
पेसिय – प्रवेशित ६२.
पोट्ट – उदर, पेट, म. पोट, १०६.
पोट्टलि – पोटलिक, पोटली, १०९.
पोत्थय – पुस्तक, पोथी, १५९.
पोरिस – पौरुष, १४२.
पोसिय – पोषित, ६५.

फ

फरसिंदिअ – स्पर्शेन्द्रिय, १२३.
फलइ – फलति, फलता है, ७०.
फलिहसंकास – स्फटिक+सदृश, २१३.
फाटइ – स्फुटयति, फटता है, १४९
फुट्टिवि – स्फुटित्वा, फूटकर, १००
फुल्लिय – पुष्पित, फूलाहुआ, ३५.
फूलत्थाण – पुष्पस्थान, ३४.
फोडिअ – स्फोटित, फोड़ा, २२०.

ब

बद्धइण – बद्धेन, बांधने से ६०.
बबूल – वर्बुर, बबूल(वृक्ष विशेष९४)
बलइद्दा – बलीवर्द बैल, ११०.
बलिय – बलीयस् बली, १४७.
बहिणि – भगिनी, बहिन, ४२.
बहुत्त – बहु, बहुत, २१.
बहुभेय – बहुभेद, ८२.

बहुय – बहु+क, बहुत, ४८.
बहुवेस – बहुवेष, १६२.
बंधअ – बांधव, ४४.
बंधण – बन्धन, ६४.
बंधि – बधान, बांध, २०८.
बंभण – ब्राह्मण, ७६.
बंभयारि – ब्रह्मचारिन्, १५.
बारह – द्वादश, बारह, ५९.
बाहिरउ – बहिर्, बाहिर, ५७.
बिण्णिसयइ – द्विशत, दो सौ, २१६.
बिइअ – द्वितीय, १७.
बिहिं – द्वाभ्याम्, दो से, ७४.
बीअ – बीज, ७०.
बीय – बीज, ४७.
बीयअ – द्वितीय, गुज. बीओ, ११.
बुज्झवि – बुध्वा, बूझकर, ७८.
बोरि – बदरीफल, बोर या बेर, ११०
बोल्लि – ब्रूहि, कह, ८८.
बोल्लिज्जइ – उच्यते, बोला जाता है, या ब्रुड्यते, डुबाया जाता है, ८६.
बोहि – बोधि, ज्ञान, २१०.

भ

भक्खण – भक्षण, १२४.
भक्खण – भक्षण, ३४.
भक्खिअ – भक्षित, ४०.
भग्ग – भग्न, भगा हुआ, ४६.
भज्जइ – भज्यते, भग्न होता है, १४५.
भज्जंति – भज्यन्ते, भग्न होते हैं, ७५
भणिअ – भणित, कहा गया, १३.
भणु – भण, कहो, ५५.
भणेइ – भणेत्, कहे, १३६.
भत्ति – भक्ति, १५८.
भत्तिभर – भक्ति+भर, ११६.
भरइ – भरति, भरता है, १०३.
भरिअ – भृत, भरा, ८९.
भल्ल – भद्र, भला, ६५.
भल्लिम – भद्रिमन्, भलाई, १४१.
भवाई – (?) छाया इति टिप्पणम्, ७७.
भविय – भव्य, ३३.
भव्वुच्छाहणि – भव्योत्साहिनी, ११९.
भसल – भ्रमर, १७०.
भंति – भ्रान्ति, ६८.
भंतिक – भ्रान्तिक, भ्रान्तिवाला, १३१.
भाइय – भावित, २१३.
मारिअ – मारित, मारी, १०९.

भासिय – भाषित, २८.

भिट्टडी – साक्षात्कार, भेंट, ९४.

भिस – बिस, बिस (कमलनाल) ३४.

भुक्खिय – बुभुक्षित, भूखा, १०३.

भुवणत्तय – भुवन+त्रय, १०८.

भुंजइ – भुंक्ते, भोजन करता है, १६.

भुंजाइवि – भोजयित्वा, भोगवा कर, ५९.

भुंजिज्जइ – भुजीत, भोजन करे, ३५

भुंजिवि – भुक्त्वा, भोगकर, ७३.

भूरि – (तत्सम) बहुत, २२.

भेरि – भेरी, १७५.

भोअ – भोग, १८६.

भोज्जासण – भोज्य+अशन, भोजन ३७.

भोय – भोग, ८२.

भोयण – भोजन, ३०.

भोयणिबंध – भोग + निबन्ध, २०९.

भोयधर – भोगधरा, भोगभूमि, १९०.

भोयावणि – भोग + अवनि, भोग-भूमि, ९६.

म

म – मा, मत, १७५.

मइ – मति, १०.

मइलिज्जइ – मलिनीक्रियते, मैला होता है, २९.

मइलेइ – मलिनायते, मैला होता है, ३६.

मउडंकिय – मुकुटांकित, १७४.

मउण – मौन, १४३.

मउयत्तण – मृदुत्व, १३२.

मउलिय – मुकुलित, १७०.

मग्ग – मार्ग, ८.

मग्गइ – मार्गयति, मांगता है, ४९.

मग्गि – मार्गय, मांग, २१०.

मच्छ – मत्स्य, मच्छ, १२४.

मज्ज – मद्य, २२.

मज्जामिसरय – मद्य + आमिष + रत, २९.

मज्झिम – मध्यम, ७९.

मढिल्ल – माढि, मट्ठापन, १३०.

मण – मनस्, मन, १४.

मणगच्छ – मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छा; या, मण + गच्छ, मत जा, १२७.
मण्णामि – मन्ये, मानता हूं,११८.
मण्णि – मन, मान, (धातु-म्ना), ११.
मण्णिय – मानित, २४.
मणुय – मनुज, ११४.
मणुयगइ – मनुज + गति, १६३.
मणुयत्तण – मनुजत्व, ३.
मणोरह – मनोरथ, १९०.
मय – मद, २०.
मयण – मदन,मैन (bee's wax), ६७.
मरइ – म्रियते, मरता है, १४६.
मरगअ – मरकत, ९.
मरंत – म्रियमाण, मरता हुआ,७१
महइ – महति, पूजता है, १८०.
महंत – महत्, २३.
महारयण – महारत्न, २०८.
महु – मधु, २२.
महुर – मधुर, १४२.
मंजर – मार्जार, बिल्ली, ४७.
मंजिट्ठ – मंजिष्ठा, मंजीठा, ५६.
मंड – मण्डित, १७९.
मंडिय – मण्डित, मांडना, २०१.
मंत – मंत्र, २१५.
मंति – मंत्रिन्, मांत्रिक, २१७.
मंदकसाय – मन्द+कषाय, १६३.
मंस – मांस, २२.
माइ – माति, माता, ११०.
माइणिंब – माईफल + निम्ब (वृक्षविशेष) १६०.
माण – मान, ६३.
माणाइय – मान+आदिक, १६२.
माणुस – मनुष्य, ५४.
माणुसजम्म – मनुष्यजन्म, ९.
मारइ – मारयति, मारता है, ६३.
माहउसरण – माधवशरण (वसंतानुगामी व विष्णुभक्त), १७३.
मि – अपि, भी, ५९.
मिच्छत्त – मिथ्यात्व, १३६.
मिच्छादिट्ठि – मिथ्यादृष्टि, ८२.
मिच्छाभाअ – मिथ्याभाव, १४४.
मित्त – मित्र, ४४.
मिलिअ – मिलित, मिला, १९४.
मिल्लहि – मुञ्च, छोड़, १४४.
मिल्लि – मुञ्च, मेल या छोड़ १३४.
मिस – मिष, १७५.

मीसिअ – मिश्रित, ३६.
मुअ – मृत, मुआ या मरा, १२४.
मुइवि – मुक्त्वा, छोड़कर, ३७.
मुक्क – मुक्त, १५.
मुक्ख – मूर्ख, १०६.
मुच्चइ – मुच्यते, मुक्त होता है,४४
मुणि – मन, स्तुतिकर (धातु – त्रा, या मुण्) १०८.
मुणिय – मुणित, ज्ञात कथित वा, (धातु–मुण प्रतिज्ञाने) ५.
मुणिंद – मुनीन्द्र, ७९.
मुणेइ – मन्येत, माने, १३६.
मुत्तिअ – मौक्तिक, मोती, ९१.
मुलल्लिअ – मूल्लित, मूल्युक्त, ३५.
मुह – मुख, मुंह, ११८.
मुहु – मुहु', बार बार ४२.
महुत्त – मुहूर्त, २८.
मूढा – मूढता, २०.
मेल्लि – मुक्त्वा, छोड़कर, १३०.
मेल्लिवि – मुक्त्वा, मेलकर या छोड़कर, ११७.
मोकलिय – मुक्त, ६६.
मोक्ख – मोक्ष, ७४.
मोडइ – मुंठ्येत , मोड़े, १३०,
मोत्तिय – मौक्तिक, मोती, ११०.
मोहिय – मोहित, ११६.

र

रइ – रति, १२६.
रक्खहु – रक्ष, रखाओ, १२५.
रक्खिज्जइ – रक्ष्यते, रखाया जाय, ९८.
रज्ज – राज्य, २००.
रडइ रठति,रटती है, १७५.
रय – रजः, रज, १८३.
रयइ – रचयति, रचता है, १५१.
रवण्ण – रमणीय, ९१.
रसंति – रसन्ती, बजती हुई, १९९.
रहंति – रक्ष्यन्ते, रहते है, १३८.
रहिअ – रहित, ५.
रंध – रन्ध्र, छिद्र, ३.
राइय – राजित, १७१.
रामण – रावण, पु., ६३.
रिसि – ऋषि. ५३.
रुक्खडा – वृक्ष, रूख, १९०.
रुज्झइ – रुध्यते, रोका जाता है, १४०.
रुहिरामिस – रुधिर+आमिष,३३.
रूव – रूप, १२६.

रुवासत्त – रूपासक्त, १२६.
रेहइ – राजते, विराजता है, १७४.
रेहइ – राजते, विराजता है, ११६.
रोस – रोष, २१८.
रोहिणि – रोहिणी (उपवास विशेष) १८८.

ल

लकडिय – लकुटी, लकड़ी, १४८.
लक्ख – लाक्षा, लाख, ६७
लग्ग – लग्न, लगा, ३८.
लग्गइ – लगति, लगता है, ४४.
लच्छि – लक्ष्मी, १८७.
लच्छिम – लक्ष्मी, १४३, १९१.
लद्धि – लब्धि, लाभ, ४७.
लब्भइ – लभ्यते, लाभ होता है, ७१.
लब्भंति – लभन्ते, पाते हैं, २०३.
लहंति – लभन्ते, पाते है, ९६.
लहिवि – लब्ध्वा, लेकर, ८०.
लहु – लघु, २०७.
लंपड – लम्पट, १२५.
लाल – लाला, लार, १४६.
लालि – लालय, लाड़ कर, १२३.
लालिअ – लालित, १२३.
लाह – लाभ, १६३.
लित्त – लिप्त, ३१.
लिहाविय – लेखित, लिखाया, २०२.
लिहिय – लिखित, २०१.
लिहिवि – लिखित्वा, लिखकर, ४२.
लुग्ग – भग्न, जीर्ण, मार. लूगा, १४९.
लेइ – लाति, लेता है, ९०.
लेहु – लाहि, लेओ (करो) ११९.
लोइ – लोके, लोक में, ११५.
लोणि – नवनीत, मक्खन, २८, म. लोनी.
लोय – लोक, २०२.
लोयण – लोचन, ११८.
लोयणि – लवनी, लुवनी या (उस्तरा ?) १७.
लोह – (तत्सम), लोहा, ६७.
लोह – लोभ, १३४.
लोहकज्जि – लोह+कार्ये, लोहे के लिये, २२१.
ल्हसुण – लशुन, लहसुन, ३४.

व

वइसाणर – वैश्वानर, अग्नि, २३.

वग्घ – व्याघ्र, ८.
वच्चंति – व्रजन्ति, जाते हैं, १४७.
वज्जिय – वर्जित, १५.
वड – वट (वृक्ष), ९०.
वड – मूर्ख, १२५.
वणयर – वनचर, ८.
वणसइ – वनश्री, १७९.
वणिज्ज – वाणिज्य, ४९.
वण्णइ – वर्णयति, वर्णन करता है, ७२.
वत्थ – वस्त्र, २०३.
वय – वचस्, वचन, १४.
वय – व्रत, ३८.
वयण – वचन, ५.
वयणंकुस – वचन+अंकुश, १३०.
वयणिट्ठ – व्रत+निष्ठा, ५६.
वयणियर – व्रत+निकर, १३९.
वयदंसण – व्रत+दर्शन, ८३.
वयपासा – व्रत+पाश, °पांसे, ५८
वयभायण – व्रत+भाजन, ११६.
वयरुक्ख – व्रत+वृक्ष, °रूख ५७.
वरपअ – वर+पद या पय (दूध) २२२.
वराडिअ – वराटिका, कौड़ी, २०९
वरिट्ठ – वृष्ट, बरसा, ६८.
वलंत – ज्वलत्, जलते हुए, १२१.
वलिय – वलित, आंटें दिया हुआ, ६४.
वल्लह – वल्लभ, १७८.
वविय – उप्त, बोये, ९४.
वस – वश, १४२.
वसण – व्यसन, १०.
वसणणिवह – व्यसन + निवह, १४४.
वसणासत्त – व्यसनासक्त, ५२.
वसाइ – वासयति, बसाता है, १९४
वसि – वशे, वश में १२५.
वसिय – उषित, बासा, ३५.
वसुराअ – वसुराज, पु. ६१.
वहंति – वहन्ति, बहते हैं, १०२.
वंछिअ – वाञ्छित, १८०.
वंछिज्जइ – वाञ्छयते, चाहा जाता है, २१२.
वंदिअ – वन्दित, २१८.
वंस – वंश, १८५.
वाअ – वात, १४७.
वाइय – वापित, बोबाया, १६०.
वार – द्वार, १३५.

वारिय – वारित, ४१.

वारियहि – वारयसि, निवारेगा, १५५.

वाविय – वापित, बोवाया, ७०.

वासर – (तत्सम), दिन, २.

वाहि – व्याधि, ४१.

वाहुडइ – व्याप्रणोति, वापरता है, १६१.

वि – अपि, भी, १०.

विउल – विपुल, १३७.

विक्कइ – विक्रीणाति, बेचता है, २०९.

विग्गासिय – विकासित, २१२.

विग्घ – विघ्न, १००.

विचित्त – विचित्र, १७२.

विच्छाअ – विछाय, निष्प्रभ, १२५

विज्जावच्च – वैयावृत्य, (मुनिसेवा), १३९.

विढप्पइ – विवर्धते, बढता है, १०७.

विणअ – विनय, ७८.

विणट्ठ – विनष्ट, ६३.

विणयविवज्जिय – विनय+विव र्जित १३८.

विणास – विनाश, १३.

विणासिअ – विनिशित, २०४.

विणिवारिय – विनिवारित, ४३.

विणु – विना, ६.

वित्थर – विस्तार, ९०.

वित्थरइ – विस्तृणोति, विस्तरता है, २००.

विदिस विदिशा, ६६.

विपडंति – वि + पतन्ति, पड़ते हैं, ८,

विपलय – वि + प्रलय, १८८.

विभोअ – विभोग, ७२,

विमुक्क – विमुक्त, २५.

वियाणिय – वि + ज्ञानिन्, विपरीत ज्ञान वाले, १०५.

वियाणु – विजानीहि, जानो, १९.

वियार – विचारय, विचार कर, १५२

वियारिय – विदारित, २२१.

विरहिय – विरहित, १३९.

विलग्गउ – वि + लगतु, लगे, १०७.

विलुलंत – विलुलत्, लहलहाता हुआ, १७१.

विवज्जिय – विवर्जित, २१.

विस – विष, २.

विसकणिय – विष+कणिका, २०७

विसकंदलि – विष+कन्दली, ५०.

विसघारिय – विष+मूर्च्छित, २१७ (देखो घारइ).

विसमेस – विष + मेष, १६२.

विसय – विषय, २२०,

विसहइ – विषहते, सहता है, १२४.

विसहर – विषधर, सर्प, ५४.

विसाल – विशाल, १९८.

विसुद्ध – विशुद्ध, ९२.

विह – विष, ९

विहडावइ वि+घटयति, विगाड़ता है. १५१.

विहडिवि – विघट्य, विघटकर, १००.

विहाण – विधान, ७०.

विहि – विधि, २०९.

विहिय – विहित, १५९.

विहिविरहिय – विधि+विरहित, ७०.

विहूइ – विभूति, १७९.

विहूण – विहीन, ११५.

विंसुत्तर – विंशद्+उत्तर, बीस ऊपर, २२२.

वुच्चइ – उच्यते, कहा जाता है, १४१.

वुड्डइ – वुडति, डूबती है, १६१.

वुत्त – उक्त, ४.

वेदल – द्विदल, दाल, ३६.

वेयण – वेदना, ४३.

वेल्लि – वल्ली, वेली, ४५.

वेसा – वेश्या, ४३.

वेसाघर – वेश्या+गृह, ४४.

स

सइं – स्वयम्, १७.

सउच्च – शौच, ७.

सकिलेस – स + क्लेश, १६५.

सक्क – शक्र, इन्द्र, १६८.

सक्कइ – शक्नोति, सकता है, २०१

सग्ग – स्वर्ग, ७३,

सग्गागमण – स्वर्ग + आगमन, १६७.

सचिक्खल – स+कर्दम, कीचड-युक्त, १४८, म चिखल

सच्चामर – सत् + चामर, या, सत्य + अमर, १७६

सज्झाअ – स्वाध्याय, १४०.

सण – (तत्सम), सन (hemp), ६७.

सण्णास सन्यास, ७१.

सण्णाह – सन्नाह, कवच, ६०.

सत्तक्खर – सप्ताक्षर, २१५.

सत्तट्ठम – सप्त+अष्टम, ७४.
सत्तम – सप्तम, १५,
सत्ति – शक्ति, ९.
सत्तु – शत्रु, १४२.
सत्थ – शास्त्र, १५९.
सत्थसअ – शास्त्र+शत, १०५.
सदप्प – सदर्प, ६५.
सद्द – शब्द, १७५.
सद्धाण – श्रद्धान, १९.
सप्प – सर्प, ६५.
समउ – समम्, साथ में, ३०.
समत्त – समाप्त, ४५.
समसरण – समवशरण, १७०.
समाइय – सामायिक, ६८.
समायरहि – समाचर, आचरण कर, १०१.
समाहि – समाधि, १९३.
समिला – शम्या,, सैला.(Yoke pin) ३ (शम्या युगकीलकः. अमर)
समीढवहु – (?) समीरय,सम्हारो ५८.
समीहिय – समीहित, २०१.
समुद्द – समुद्र, स्व+मुद्रा, १४३.
सम्मत्त – सम्यत्व, १०.
सम्माइट्ठि – सम्यग्दृष्टि, ७९.
सम्मुच्छाइ – सम्मूर्च्छायत, सन्मूर्छन जीवों से युक्त होता है, २८.
सयल – सकल, ५१.
सर – सर., सरोवर, १९१.
सरय – शरद्, १९४.
सरवर – सरोवर, १८.
सरस – (तत्सम), रसयुक्त, १२४.
सरसइ – सरस्वती, १४१.
सरसलिल – सर.+सलिल, ६९.
सरिस – सदृश, २८.
सरिसअ – सदृश, १२०.
सरूव – स्वरूप, ९१.
सरेह – स+रेफ, २१२.
सलक्खण – सलक्षण, ११७
सव्व – सर्व, २५.
ससर – स+स्वर, २१२.
ससहर – शशधर, चन्द्र, १७६.
ससि – शशिन्, चन्द्र, २९.
सहइ – सहते, सहता है, १०३.
सहल – सफल, ९.
सहसणयण – सहस्रनयन, इन्द्र, ७२.

सहाअ – सहाय, १२०.

सहु – सह, साथ, २०८.

संकाइय – शंका + आदिक, १९.

संखेव – संक्षेप, १.

संघ – मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, यह जैनियों का चतुर्विध संघ कहलाता है, १५८

संग – संग, २२३.

संघडइ – संघटयति, संगठन करता है, १५१.

संजम – संयम, ७.

संझा – सन्ध्या, १२.

संताव – संताप, १५४.

संतोस – सन्तोष, १३७.

संदोहय – संदोहक, २२२

संपइ – सम्प्रति, आजकल, ७७.

संपय – सम्पद्, ८९.

संपुण्णहल – सम्पूर्णफल, १७८

संबोहिय – संम्बोधित, १११.

संभाविय – संभावित, १६७.

संवरहि – संवारय, सम्हार, १२४.

संसग्ग – संसर्ग, ५२.

साइयजल – स्वातिजल, ९१.

– सासारंड, ढोंढी, ६१.

सामग्गि – सामग्री, २१.

साय – स्वाद, ३५.

सायर – सागर, ३.

सावअ – श्रावक, १०.

सावज्ज – सावद्य, सदोष, २०४.

सावयगुण – श्रावक+गुण, २१.

सावयधम्म – श्रावक+धर्म, १.

सास – शस्य, ८३.

सासण – शासन, १७८.

सासयपअ – शाश्वत+पद, २१०.

सिक्खावय – शिक्षाव्रत, ११. (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं।)

सिज्झइ – सिध्यति, सधता है, २१.

सिट्ठ – शिष्ट, ३०.

सिट्ठ – शिष्ट, कहा गया, ७९.

सिप्पि – शुक्ति, सीप, ९१.

सियसंजोअ – श्री + संयोग, १९१.

सिर – शिरस्, सिर, ७६.

सिलिमुह – शिलीमुख, भ्रमर, १२५.

सिवगइ – शिवगति, २२२.

सिवपट्टण – शिवपत्तन (मोक्ष), ८.

सिविण – स्वप्न, १६०.

सिविणयपंति – स्वप्न + पंक्ति, १६७.

सिंचइ – सिञ्चति, सींचता है, ९५.

सिंचंत – सिच्यमान, सींचा गया, ९८.

सिंचिय – सिक्त, १८०.

सीय – सीता, स्त्री, ६३.

सील – शील, ७.

सीह – सिंह, २१५.

सुअज्जिय – सु + आर्यिका, २०३.

सुक्क – शुष्क, सूखा, १८.

सुक्कसर – शुष्क + सरः, १३९.

सुक्ख – सुख, २०६.

सुक्खडा – सुख, १५२.

सुच्चइ – शुच्यते, शुद्ध होता है, २६.

सुज्झइ – शुध्यते, १३१.

सुणह – श्वन्, कुत्ता, ४७, ८२.

सुणहु – शृणु, सुनो, ४२.

सुणंति – शृण्वन्ति, सुनते हैं, ११८.

सुणि – शृणु, सुनो, २१.

सुत्त – सूत्र, ४२.

सुदेअ – सुदेव, १५५.

सुद्द – शूद्र, ७६.

सुपत्त – सुपात्र, ८५.

सुपरोहण – सु + प्रवहण, नौका ८५.

सुमणस – सुमनस्, पुष्प या शुद्धमन, १७३.

सुयण – सुजन, २.

सुयपंचमि – श्रुतपंचमी (उपवास) १८५.

सुयंध – सुगंध, १५०.

सुरयण – सुरत्न, २२०

सुरराअ – सुरराज, १६४.

सुरलोअ – सुरलोक, ७२.

सुरहि – सुरभि, सुगंधित, १८४.

सुरिंद – सुरेन्द्र, १६९.

सुवण – सुमनस्, सुमन, पुष्प, १४१.

सुवण्ण – सुवर्ण, १३६.

सुवुत्त – सु + उक्त, ७८.

सुह – सुख, ४.

सुहावण – सुखापन, सुहावना, १७२.

सुहिय – सुखिन्, सुखी, २.
सूणी – शुनी, कुत्ती, १४७.
सूर – सूर्य, ३७.
सूरण – कन्दविशेष, सूरन, ३४.
सूरि – (तत्सम), ७.
सूरुग्गामण – सूर्योद्गम, १४०
सेहर – शेखर, २२३.
सो – स', वह, २८.
सोअ – शोक, १७१.
सोइ – सोऽपि, ७
सोक्ख – सौख्य, ७४,
सोसइ – शोषयति, सोखता है, ६९
सोहग्ग – सौभाग्य, १८९.

ह

हउं – अहम्, हूं (मैं), ११८.
हक्कार – आह्वान, हल्कार या हांक, ८८.
हक्कारइ – हो, इति शब्देन आह्वयति, हांका लगाता है, १७५.
हणइ – हन्ति, हनता है, ४६
हणेइ – हन्यात्, हनेगी, ४८.
हत्थ – हस्त, हाथ, ११७
हत्थिय – हस्तिन्, हाथी, १२३.
हयतम – हत+तमस्, १७२
हरिणउल – हरिण+कुल, २१५.
हरिय – हरित, हरा, १४.
हरिसिय – हृष्ट, १७६.
हरेइ – हरेत्, हरेगा, ६२.
हलुव – लघुक, १३४, १३५. (हेम. २, १२२.)
हवइ – भवति, होता है, ८७.
हवसि – भवति, होता है, १५५.
हवंति – भवन्ति, होते हैं, १७७.
हंसउल – हंसकुल, १३९.
हारिअ – हारित, हराया, ८४.
हिय – हृत, १७.
हियइच्छिअ – हृदय+इष्ट, १०१.
हियकण्णडा – हृत+कर्ण, १२७.
हियकमलिणि – हृदय + कमले, २१३.
हियडा – हृदय, ५८.
हियमहुर – हृदय+मधुर, १७८.
हिययंचल – हृदय+अञ्चल, २०८
हियवअ – हृदय, ५३.
हुज्जउ – भवतु, होवे, २२४.
हुयास – हुताश, अग्नि, ३८.
हुयासण – हुताशन, ९८.
हुव – भूता, हुई, १७९.
हुवअ – भूत, हुआ, १५३.
हुंति – भवन्ति, होते हैं, १८.
होइ – भवति, होता है, ६.
होउ – भवतु, होवे, २.
होसि – भवसि, होता है, १५६.
होहि – भव, हो, १२९.

टिप्पनी

७. बृहन्निघण्टुरत्नाकर में उत्तम सुवर्ण की परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है–

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम् ।
तारं शुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत् ॥
तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम् ।
दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम् ॥

पृ. ३९३.

८. चोरहं पिडि विपडंति– हिन्दी का महावरा भी यही है– चोरो के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना । भ. प्रति की टीका में 'पिडि' का अर्थ 'पथि' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है ।

९. श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ के संयम की वृद्धि के अनुसार ग्यारह दर्जे हैं जिन्हें श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहते हैं । दोहा नं. १० से १७ तक इन्हीं प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं ।

१०. 'पंच उदुम्बर' कोष में देखिये । व्यसन सात माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं–

द्यूतं मांसं सुरा वेश्याखेटं चौर्यं पराङ्गना ।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥

इनके त्याग का उपदेश दोहा नं. ३८ से ५१ तक पाया जायगा ।

सम्मत्त- सम्यक्त्व-- का शब्दार्थ शुद्धता या यथार्थता है। जैन धर्म में इस शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्चो दृष्टि के अर्थ में किया जाता है। सम्यग्दर्शन की परिभाषा यह है--

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४)

'परमार्थ अर्थात् जैन सिद्धान्त के सात तत्वों तथा देव, शास्त्र और मुनियों में तीन मूढता और अष्ट मद से रहित, श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।' यही लक्षण दोहा नं १९-२० में कहे गये हैं। दोहा नं. ५३ भी देखिये। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के लिये देखिये 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ११-१८.

११ **पंचाणुव्वय**- पंच अणुव्रत-- कोष देखिये। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का उपदेश दोहा नं. ५९ से ७२ तक पाया जायगा।

१२. **सामायिक**- के अनादृतादि बत्तीस दोषों के लिये देखिये 'मुलाचार' गाथा ६०३-६०७.

१७. '**कत्तरिलोयणिहियचिहुर**'--' कर्तर्या लवन्या वा हृताः चिकुराः येन सः '। भ. प्रति की टीका में '**लोयाणि**' का अनुवाद '**लौंचनि**' से किया गया है जिसका अर्थ या तो लौंचने का शस्त्र उस्तरादि हो सकता है या हस्तलौंच।

१९. जैनियों के सात तत्वों के निरुपण के लिये देखिये बैरिस्टर चम्पतरायकृत 'Practical Path.'

२०. सम्यक्त्व के शंकादिक आठ दोष ये हैं-शंका, कांक्षा, जुगुप्सा (घृणा)

मूढदृष्टि (मिथ्यामत में श्रद्धान), तथा उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना का अभाव.

कुल जाति, राज्य, रूप, बल, तप, सम्पत्ति और विद्या इनके अभिमान को मद कहते हैं।

कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की श्रद्धा का नाम मूढता है। इन तीनों तथा इन तीनों के उपासकों को जो मानता है वह अनायतन कहलाता है।

२३. उपर्युक्त दोहे में कहे हुये मद्य, मांस और मधु में से प्रथम दो का वर्णन न कर इस दोहे में एकदम तीसरे का प्रसंग छेड़ा गया है। इसी कमी को पूरा करने के लिये भ प्रति में दो दोहे जोडे गये हैं (देखो परिशिष्ट) कवि ने संभवतः उन्हे यहां इसलिये छोड दिया है कि उनका वर्णन आगे सप्त व्यसनों में आने वाला है (देखो दोहा ४१–४२)।

२४. इस दोहे का प्रथम चरण भ. प्रति में इस प्रकार है '**अणुवय अट्ठइं मण्णियइं**'। इसका अर्थ होता है 'आठों' अणुव्रतों के मानने से (मधु का परिहार होता है)। किन्तु यह पाठ उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि एक तो अणुव्रत आठ नहीं है पांच है जो द्यूत, मांस और मधु के त्याग सहित अणुव्रत नहीं मूलगुण कहलाते हैं। और दुसरे इस अर्थ से दूसरी पंक्ति की कुछ सार्थकता नहीं बैठती।

२५ '**सव्वइं**' पाठ केवल प. प्रति में है शेष सब प्रतियों में '**सग्गइं**' पाठ है। भ. में भी 'सग्गइं' है और उसके अर्थ में कहा गया है '**सहिजणादिकुसुमानि अपि त्यागं करोति**'। यदि इसका अर्थ हम शाक (साग) करें तो अच्छा होगा। तदनुसार प्रथम चरणका अनुवाद होगा 'शाक और फूलों को छोड़ देने से' इत्यादि।

२७. प्रथम पंक्ति का अर्थ भ प्रति की टीका में इस प्रकार किया गया है–
'येन (यः) अगालितजलं,हे जीव, अथं ज्ञात्वा यदि न प्रचारं निन्द्यां

करोति स व्रती न '। किन्तु मूल के शब्दों पर से यह भाव निकलना कठिन है।

२८. कुछ पदार्थों में उनकी आन्तरिक गर्मी से जो कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं उन्हे जैन सिद्धान्त में सम्मूर्छन जीव कहते है।

३०. भ. प्रति में, **ताहं समउ जें कारणइं** ' के स्थान पर ' **ता सम भुंजइ जो वि णरो** ' पाठ है, और यह दोहा नं. ३१ से पहिले रखा गया है।

३१. ' **तउमंडयहं** ' पाठ किसी भी प्रति में नही है, किन्तु उपर्युक्त अर्थ बैठाने की दृष्टि से ' भ ' के स्थान पर ' म ' पाठ रख दिया गया है। तो भी अर्थ बहुत संतोषजनक नही निकला।

भ. प्रति में ' **तहं भंडयहं** ' पाठ है और दोहे का अर्थ इस-प्रकार किया गया है–' **इच्छापि कृते तं धर्मं भांडयति लाजयति। यदि चेत् पक्वमशनादिकमपि आस्वादयति तस्य भवन्ति (भवति) न दर्शनव्रतप्रतिमा** ' इससे मूल के शब्दार्थ समझने में मुझे कोई सहायता नही मिली।

श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, अर्धमागधी-प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर ने दोहे का अर्थ सूचित किया है–' किसी को उनके पक्के भोजन से लिप्त ' भांडों (पात्रों) में भोजन करने के लिये नही बैठना चाहिये। ये भाण्ड श्रावकों के योग्य नही है उन पात्रों में का भोजन भी (अशुद्ध है)। ' इस अर्थ में ' अच्छउ ' से भोजन करने बैठना, तथा ' भंड ' और ' पत्त ' से भांड और पात्र का अर्थ लिया गया है। मेरे ध्यान से ' तहं भंडयहं ' पाठ को लेकर दोहे का निम्न अर्थ अच्छा होगा " उनके पके भोजन से लिप्त भांड (में भोजन बनाना) तो रहने ही दो उनके पात्रोंमें भोजन करना भी श्रावकों के योग्य नही है " इस अर्थ के लिये ' भोयणु ' (एक वचन) के स्थान पर भोयण (बहुवचन) पाठ रखना आवश्यक है क्योंकि उससे सम्बद्ध

क्रियापद 'हुंति' और विशेषण 'जुगाई' बहुवचन में है। अ. द. और म. प्रतियों में 'भोयणं' ही पाठ है।

३४. 'मूलउ णाली' पढना ठीक होगा। म. प्रति की टीका में इसका अर्थ 'मूल हरिद्रादि कमलनालिका' ऐसा किया गया है। इस पंक्ति का दौलतरामजीकृत क्रियाकोष की इस पंक्तिसे मिलान कीजिये–

'तजि केदार तूंबडी सदा खाहु म नाली भिस तुम कदा'।

प प्रति में बिस की जगह ढिस पाठ है। कमलनाल की शाक को कई जगह ढिस या ढेस अबभी कहते है। भ. प्रति में भिस पर टिप्पण है 'कमलजड़' तथा 'त्थाणयाहिं' की जगह 'छाणयाहिं' पाठ है और दूसरी पंक्ति की टीका है 'सूरण-कंद-फूल-अछाणकं एतेषां खादिते सति सम्यक्त्वं मलिनं भवेत्'। 'अत्थाणय' से संभवतः अथाना (अचार Pickles) का तात्पर्य हो।

३५. म. प्रति में 'मुललिउ' के स्थान पर 'सुलिउ' पाठ है और उसपर टीका है 'अन्यं यत् सुलितं फूलसंयुक्तं' इत्यादि। सुल्लित से संभवतः अंकुरित का तात्पर्य है। 'मुललिउ' से म्लान या मुकुलित (बोड़ी) का तात्पर्य भी कदाचित् हो सकता है।

४१. 'पुट्ठिमंस' से यहां कवि का क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट समझ में नही आता। क्या पीठ का मांस बहुत स्वादिष्ट होता है इससे मांस भोजियों को उसका छोडना कठिन है? पृष्ठमांस का एक अर्थ संस्कृत में पैशुन्य अर्थात् चुगलखोरी भी होता है, यथा–

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं।
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकं।
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥

भ. प्रति में ' पुट्ठिमंसु ' के स्थानपर ' पिट्ठिमंसु ' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ ' धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो ' ऐसा किया है (धान्यचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेठी त्यज्यते)। देवसेन कृत भावसंग्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी (? , के योग से बने पिठर में मदिरा की शक्ति आजाती है। ' जह गुडधादइजोए पिठरे जायइ मज्जिरासत्ती ' ' (१७१)। इन तीन अर्थों में स लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुझे उनमें से एक भी नही ज्ञात होता। दूसरी पंक्ति में जो कवि ने अपथ्य और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में ' पुट्ठिमंस ' मांसभक्षण का मूल है।

४२. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। ' सुत्तउ ' पाठ मेरा कल्पित है। पोथियों में ' मुत्तहं ' या ' मुत्तउ ' है। भ. प्रति का पाठ इस प्रकार है–' मज्जहु विलिसिहि विमुत्तई सुणहु हु मज्जहु दोसु ' और इसका अर्थ यह दिया गया है–' मदिरालिप्तमुखं यस्य तस्य मुखे श्वानो (श्वा) मूत्रं करोति '। यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ सकते है–' मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु ' (मुखं विलिह्य मूत्रयति श्वा)।

५८. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैठाने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है। फिर भी ' समीढवहु ' पाठ सन्दिग्ध है। शब्दों के अर्थ कोष में देखिये। भ. प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार किया गया है ' शुद्धदर्शनं कदा भवेत् यदा गता दूरीकृता अस्यो मिथ्यात्वशत्रवः। एतादृशं सम्यक्त्वं हृदये सुनिश्चलं यस्य व्रतोपवासादिनां ' समाटः ' प्राप्तो भवः (?) बहूनि, हे जीव, चपलानि जीवितव्यं धनानि आयुषमपि '। श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं-' क्षुद्र या मिथ्या दर्शन, जो (अबतक) हृदयमे निश्चल था, को छोड़ो। व्रत के पाश सम्हालो। हे जीव, धन और आयु चंचल हैं। '

वे ' गड्डायर ' का ' क्षुद्र ' अर्थ मम्मटाचार्य कृत काव्यप्रकाश, ९, ८१, में प्रयुक्त ' गड्डु ' के आधार पर करते हैं। (तदेत्काव्यान्तर्गड्डुभूतमिति नास्य भेद-लक्षणम्)।

६१. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुपुत्र पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उपाध्याय के पास विद्या पढा था। गुरु की मृत्यु के पश्चात् एकबार नारद और पर्वत में ' अजैर्यष्टव्यम् ' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खडा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हें ' तीन वर्ष के पुराने धान जो ऊग न सकें ' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके निर्णय के लिये वसु को मध्यस्थ चुना। पर्वत की माता ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका वचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भी पर्वत के अर्थ की पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने सिंहासन सहित पृथ्वी में धंस गया और फिर मर कर नरक को गया। (देखो नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष)।

' शाखारण्ड ' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शाखा को छोड़ कर दुसरी शाखा को स्वीकार करे। डाल का अर्थ भी शाखा है पर इस शब्द का उपयोग वृक्ष की शाखा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है ' सारवंड ' या ' भारवंड ' किसी ऐसे पक्षी व कीड़े को कहते हों जिसके डाल पर बैठने से उस डाल को हानि पहुंचे।

६३. इंछिय–इष्ट्वा, इच्छा करके; देखो दोहा २०९.

६६. भ. प्रति में ' पालिउ ' के स्थान पर ' पाडिउ ' पाठ है और उस पंक्ति की टीका इस प्रकार है–' येन मुकुलिते सति आसा तृष्णा वर्द्धते एव, तेन संयमं उत्पाटितम्। टीकाकार ' मोकलियई ' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं।

७७. ' भवाई ' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आया। प. प्रति में इस शब्द पर ' छांह ' ऐसा टिप्पण है उसीके आधार पर मैंने अनुवाद किया है।

भ. प्रति में दोहे की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है 'णिकट्टणइं एरंडवणे किम अण्णाइ भवेइ ' और इसकी टीका है ' यथा निकर्षये सति एरंडवनानि धान्यानि न भवेत् । (भवेयुः) ' प्रथम पंक्ति की टीका है ' मद्यमांसमधुपरित्यागे सति संपद्यन्ते श्रावकव्रतानि '। टीकाकार का अर्थ यह ज्ञात होता है ' मद्य, मांस और मधु के परित्याग से श्रावकव्रत होते हैं । एरंड के वन को बिना कृषि द्वारा साफ किये अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता ' ।

श्रीयुक्त उपाध्ये का अनुमान है कि ' भवाइं ' ' भू + आदि ' का अपभ्रंश रूप है और तदनुसार वे दोहे का अर्थ इसप्रकार बैठाते हैं- ' जो मद्य, मांस और मधु का परित्याग करता है वही (शुद्ध) श्रावक होता है । एरण्डवन में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते हैं तभी (शुद्ध) भूमि आदि रहते हैं ' इन दोनो अर्थों में ' संपइ ' सम्पद्यते के समरूप लिया गया है और मेरे अनुवाद में ' संपइ ' ' सम्प्रति ' के बराबर लिया गया है ।

८२ इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से तुलना कीजिये—

केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।
दीसंति मच्चलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४४ ॥

८४. ' उप्पहिं ' का अर्थ अनुवाद में ' आत्मना ' हिंदी-उपतकर किया गया है । भ. प्रति की टीका में उसका अर्थ ' उत्क्षिप्यते ' दिया है ।

८६. ' दोसडइ बोल्लिज्जइ ' का अर्थ अनुवाद में ' दोषेन कथ्यते ' ऐसा लिया गया है । ' बोल्ल ' धातु अपभ्रंश में बुलाने के अर्थ में अनेक जगह आई है (देखो दोहा ८८, ११५) । किन्तु देवसेनकृत ' भावसंग्रह ' में बोल (वोल) धातु कई बार ' मुड् ', हिंदी-बुडना या डूबना के अर्थ में प्रयुक्त हुई है (देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि) । तदनुसार प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है-' कुपात्र का दान (दाता को) दोष में

डुबाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है और इससे पाषाण की नाव की उपमा बहुत उपयुक्त हो जाती है।

९९. 'घडंति' का अर्थ अनुवाद में 'घटायन्ते' अर्थात् 'घटयुक्त होते हैं,' ऐसा लिया गया है। भ. प्रति में ज. प्रति के समान 'वहंति' पाठ है, और टीका है '**यथा जलं निकासिते (जले निष्कासिते) कूपके नूतनसीरं (क्षीरं) आगच्छति**'। अर्थात् 'जैसे कूप से जल निकालने पर उसमें नवीन जल आजाता है'।

१००. **अविण**–अविन का अर्थ मैंने पालिका या पार किया है। अवि का अर्थ संस्कृत में दीवाल या पर्वत और 'अविन' का अर्थ पुरोहित (अवति रक्षति यजमानमिति, अव् + इनच्, है) होता। इसी के अनुसार अवनि पृथ्वी का नाम है। भ. प्रति की टीका में भी यही अर्थ किया गया है–'**तडागनीरबंधनपालिकया विना स्फुटति नीरं न तिष्ठति**'।

१०६. योगीन्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' में एक यह दोहा है–

लाहहं कित्तिहि कारणिण जे सिवसंगु चयंति।
खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ डहंति॥

अर्थात् कीर्तिलाभ के कारण जो शिव (मोक्ष) का संग छोड़ते हैं वे मुनि खीलों के लिये देवालय और देव को ढाते हैं। इसी के अनुसार यदि हम प्रस्तुत दोहे का यह अर्थ करें तो अच्छा होगा 'पेट के लिये जो पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता है वह मूर्ख क्या खीलों के लिये देवालय नहीं पलोटता (तोड़ता)'? इसी प्रकार के भाव के लिये देखिये दोहा २१९–२२१।

१०९–११०. इन दोहों का भावार्थ यह प्रतीत होता है। कोई अधर्मी यदि प्रश्न करे कि जिस प्रकार पोटलीमात्र विक्रेय द्रव्य से बड़ा वाणिज्य नहीं हो सकता उसी प्रकार छोटे से उपवास से कोई बड़ा धर्म नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि वाणिज्य का बड़प्पन द्रव्य के परिणाम पर नहीं किन्तु

उसके मूल्य पर निर्भर है। माणिक और मोतियों से भरी पोटली के धन का पारावार नहीं और बैलभरे बेरों का कुछ भी मूल्य नहीं। इसी प्रकार उत्तम उपवासमात्र से ही बड़ा पुण्य हो सकता है। इसका उदाहरण आगे के दोहे में दिया गया है। टीकाकार का अर्थ कुछ सार्थक नहीं जंचता ' **पोटं ग्रंथिं स्वमस्तकोपरि लब्धे सति मणिमुक्तानामपि, तथापि धनं किं तस्य भवेत् अपि तु न भवेत्। किमिव यथा बोरीणां भारं वहति बलीवर्दः तथापि बोरीणां मध्ये तन्नास्ति यत्खादति** '।

११४. नागकुमार जैनपुराणानुसार बाइसवें कामदेव हुए है। पूर्वजन्म में उन्होने श्रीपंचमी उपवास का विधि सहित पालन किया था उसी के फल स्वरूप उन्हे वह कामदेव का अनुपम सौन्दर्य और बल प्राप्त हुवा था। विशेष जानने के लिये ' णायकुमारचरिउ ' देखिये।

११५. यदि ' **बोड्डियउ** ' दोहा नं ८६ के नोट के अनुसार 'ब्रुडितः' का समरूप माना जाय तो अर्थ यह हो सकता है कि ' विना डुबकी लगाये क्या कोई लोक में एक छदाम भी पा सकता है '। इसका तात्पर्य सम्भवतः उन पनडुब्बों से होगा जो तीर्थस्थानो पर जल में फेंके हुए सिक्कों को डुबकी लगाकर निकालते हैं। उन्हे कोई यात्री सीधा दाम नही देता।

१२१. अनुवाद में मण से मन और वलंत से चलत् का अभिप्राय लिया गया है किन्तु दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ संतोषजनक नहीं बैठा। भ. प्रति की टीका में मण से मा का और वलत से ज्वलत् का अर्थ लिया गया है और तदनुसार दोहे का यह अर्थ होता है ' कुछ भी करके चार दान दे। अपनी शक्ति का मत छुपा। जलते हुए (घर में से) जो कुछ निकाल लेगा वही हाथ रहेगा इसमें भ्रान्ति नही '। यह अर्थ अधिक अच्छा है। उव्वरइ-उद्वर्तते, रहता है या बचता है। देखो हेमचन्द्र व्याकरण ८।४।३७९–

महु कंतहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु।
देंतहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु॥

१२७. अनुवाद में मणगच्छ का अर्थ मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छे, किया गया है और इस कारण 'मत कर' यह भाव ऊपर से मिलाना पड़ा है। किन्तु दोहा नं. १२१ के नोट के अनुसार मण का 'मा' अर्थ लेकर प्रथम पंक्ति का यह अर्थ कर सकते हैं 'हे जीव मनोमोहनस्य गेयस्य अभिलषं मा गच्छ' हे जीव मनमोहक गीत की अभिलाषा में मत जा'। भ. प्रति में 'मण' के स्थान पर 'मा' पाठ ही है।

१३०. अनुवाद में माढिल्ल–माढि–दैन्य (Sadness, dejection) का समरूप लिया गया है। यदि हम इसे दो शब्दों में- म ढिल्लउ-विभाजित करदें तो दोहे का यह अर्थ भी किया जा सकता है 'गुरु के वचनरूपी अंकुश से खींच। ऐसा ढीला मत छोड़ कि यह मनरूपी हाथी संजमरूपी हरे भरे वृक्ष को व्यर्थ ही तोड़ मोड़ डाले'। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है। मुह का यहा अर्थ मुधा-व्यर्थ लिया गया है।

१३४ लोह शब्द द्व्यर्थक है लोभ और लोह, (लोहा)। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार लोहे से भरी नाव के डूबने का भय रहता है किन्तु लोहा निकाल डालने से वह सुलभता से पार लगती है उसी प्रकार लोभ का भार निकाल फेंकने से मनुष्य की संसार-यात्रा सुलभ होती है। इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्न लिखित गाथा से तुलना कीजिये—

> लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरणीवाहे।
> वुड्डइ जह तह वुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

१३५ अन्य परिवार से तात्पर्य क्रोध, मान, माया आदि दोषों से है जो मोह के क्षीण होने से आप ही क्षीण हो जाते हैं। मोह मानों द्वार की अर्गला है जो इन सब दोषों को मनरूपी गृह में रोके हुए है।

भ. प्रति में ''मोहु ण' पाठ है और प्रथम पंक्ति की टीका है **'यत्र मोहो दुर्बलो नास्ति तत्र इतरपरिवाराणि कथं क्षीणानि भवन्ति'**। दूसरी पंक्ति का अर्थ टीकाकार नहीं लगा सके। वे लिखते हैं

'द्वयोः पदानां (पद्ययोः) भावार्थं न ज्ञातं अतो मया न लिखितम्'।

१४२. 'चाइ' शब्द 'त्यागेन' के समरूप लिया गया है और 'ण' 'नु' के (ण के इस अर्थ के लिये देखो कोष)। यदि उसके स्थान पर 'चाड, पाठ लिया जावे और वह 'कवित्तें' के साथ जोड़ दिया जावे तो यह अर्थ हो सकता है कि 'चाटु (चापलूसी) कवितों द्वारा पौरुष (का वर्णन करने) से किसी पुरुष की कीर्ति नहीं हो सकती।' तात्पर्य यह होगा कि शत्रु को भी मीठे और उसकी प्रशंसा भरे वचनों से प्रसन्न करो। केवल वचनमात्र से उसकी कुछ कीर्ति तो हुई नहीं जाती? इसकी निम्नलिखित श्लोक से तुलना कीजिये—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव दातव्यं वचने का दरिद्रता॥

१४३. इस दोहे में 'सरसइ' और 'समुद्दि' द्व्यर्थक प्रतीत होते हैं। सरसइ-सरस्वती व सरस या स्वरस; समुद्द—समुद्र व स्वमुद्रा, या स+मुद्रा। अर्थात् मौन से भोजन करने वाले को भोजन के रसों का आनन्द मिलता है, सरस्वती भी सिद्ध होती है, तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है क्योंकि वह समुद्र (मुद्रित मुख) में निवास करती है। संभव है कि 'लच्छिमं करहु णिवासु' में मकरहु णिवास [मकर (मगर) का निवास] के अर्थ का भी समावेश हो। किन्तु दोहे की रचना में इसे यथोचित रूप से योजित करना कठिन प्रतीत होता है। इस दोहे का संस्कृत रूपान्तर मैं इस प्रकार करता हूं—

भोजनं मौनेन यः करोति सरस्वती [स्वरसेन वा] सिध्यति तस्य। अथवा वसति समुद्रे (उदधौ मुद्रासहिते मुखे वा) जीव लक्ष्मीः, कुरु निवासम् (तस्याः)। भ. प्रति की टीका में यह कुछ अर्थ नहीं बतलाया गया। टीका है 'यः पुरुषः भोजने मौनं कुर्यात् तस्य सरसास्वाध्यायं (?) भवन्ति। अथवा ये पुरुषा स्वाध्यायेषु समुदिता भवन्ति ते लक्ष्य-निवासा (?) भवन्ति'।

१४६. यहां 'लाल' शब्द में श्लेष है। लाल–लाला (लार) या पुत्र। कुसियारा–कोशकार या रेशम का कीड़ा जो अपनी लार से रेशम बनाता है और उसी के कारण मारा जाता है। भ. प्रति की टीका का अर्थ इससे भिन्न है। दूसरी पंक्ति की टीका है–क इव। श्वेतकीटकं तस्यैव अंगजातस्यैव हृदयं खादन्ति (खादति) लेकेजुंजाला मृत्तिकायाः कीटकं प्रोच्यते'। टीकाकार के मत से मिट्टी के कीड़े, केंचुए, अपनी संतान का भक्षण करते हैं। यदि यह ठीक भी हो तो भी यह अर्थ यहां लागू नहीं होता।

१४८. ग्रामों के कच्चे रास्तों के आरपार बरसात में लोग लकड़ी के ढूंडे (खोड़े) लगा देते हैं जिससे रास्ता और अधिक न बिगड़ने पावे। न्याय के खोड़े लगाये बिना दरिद्री पुरुषों की दशा और बिगड़ती ही है।

भ प्रति के टीकाकार ने यह अर्थ नहीं समझा। उनका अर्थ कुछ विचित्र ही है– 'कं इव, यथा काष्ठेन विना पादबंधनछिद्रकीलिकासहितषोडे ति लोके न भवेत्। तस्य पुरुषस्य पवित्रो ऽपि मार्गप्रकटेन दुराग्रहो भवति (?)।

१५० चन्दन के पास सर्प रहते हैं इस डरसे यह सुगन्धी वृक्ष घर के पास व बगीचों में नहीं लगाया जाता। यदि हो तो काट डाला जाता है।

१५५ जिस प्रकार छत्र से पानी और घाम का निवारण होता है उसी प्रकार इस लोक में तिर्यञ्चादि नीच गति और परलोक में नरक धर्म से ही रोके जा सकते हैं। ऐसा ही अर्थ लेने से दृष्टान्त की सार्थकता हो सकती है।

१५६. 'डरहि' का 'पतसि' पड़ता है, भी अर्थ हो सकता है। तदनुसार अर्थ यह होगा कि 'इसीसे वार वार मृत्यु (के मुख में) पड़ता है, चिरायु कैसे हो सकता है'। हिन्दी डरा-गिरा.

१५७. मुनि आदि धर्मवृद्ध पुरुषों की सेवाशुश्रूषा का नाम वैयावृत्य है। 'कंदि' की व्युत्पत्ति मैंने 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से लगाई है,

अतएव कंदि [स्कदिन्] - सूखा । अनुवाद के अर्थ के लिये ' अयाणु की जगह ' अयाण ' पाठ चाहिये । अयाणु पाठ से ठीक शब्दार्थ यह होगा ' अज्ञानी और सूखा मत हो ' । भ. प्रति की टीका कुछ और ही है और उसमें कंदि का अर्थ कथं लगाया गया है– ' **अमुना प्रकारेण व्याधि-पीडितयुक्तानां दातव्यगुणेसु अज्ञातो कथं भवासि** ' ।

१६०. भ. प्रति में तीसरे चरण का पाठ भ्रष्ट है ' **मेदनी मेइणि वंबुपवियइं** ' और टीका है ' **यथा वंबूलवृक्षविपने (वपने) सति आम्रफलं कथमास्वादयति** ' ।

१६२. प्रथम पंक्ति की रचना कुछ क्लिष्ट है । विस से विषवाले प्राणी का जो अर्थ किया है वह पूर्ण संतोषप्रद नहीं है । भ. प्रति की टीका में उस चरण का कुछ अर्थ ही नही आया । टीका है ' **ये प्राणिनः कूटतुलया मानोपमानं कुर्वन्ति तथा ह्रस्वदीर्घवाटकेन हीनाधिकं क्रय-विक्रयं करोति स व्रती श्रावको न । तस्य धर्मः कीदृशो यथा नाट्यशालायां नृत्यकारिणी बहुवेषं धारयति तत्परेषां रञ्जनं करोत्येव** ' ।

१६४. दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ सन्देहयुक्त है । भ. प्रति की टीका इस प्रकार है ' **सम्यक्तेन सह श्रावकस्य व्रतानि भवंति तेन व्रतेन स्वराधिपो भवति । यदि सम्यक्तं न भवेत् तर्हि श्रावकस्यापि व्रतानि न भवेत्** [भवेयुः] ' । इस अर्थ का मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नही दिखाता । श्रीयुक्त उपाध्ये दोहे का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार करते हैं ' **समाप्ते श्रावकव्रतानां उत्पद्यते सुरराजः । योगविनष्टः क्षिप्यते, जातः यत्र कुत्रापि किं वार्यते** ' । यहां छंडियइ ' क्षिप्यते ' के समरूप लिया गया है और ' सो ' का कोई सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम नही रक्खा गया । अनुवाद में गविणिट्ठउ का गवि+निष्ठा (अलुक् समास) इन्द्रियनिष्ठा, अर्थ लिया गया है ।

१७१. यहां **असोउ** [अशोक] और **सोउ** (शोक) का यमक उत्तम है ।

१७३. यह दोहा श्लेषपूर्ण है। पुष्पवृष्टि के वर्णन के साथ साथ कवि ने यहा विष्णु और जिन के भक्तों में अन्तर बतलाया है।

माहउशरण–माधवशरण (वसन्तऋतु-अवलम्बी, विष्णुभक्त).
थिप्पंति–पतन्ति, तृप्यन्ति (पडते हैं या तृप्त होते हैं).
सुमणस–सुमनस (अच्छे पुष्प, शुद्ध मनवाले).
अलियविवज्जिय–अलिविवर्जित (भ्रमररहित), अलीक-विवर्जित (असत्यरहित).

१७४. **रेहइ**–राजते, विराजता है। तुकबंदी की दृष्टि से **रोहइ**-रोचते ही ठीक होगा।

१८५. श्रुतपंचमी का उपवास आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को माना जाता है (देखो णायकुमारचरिउ ९, २०, ४.)

१८८. रोहिणी उपवास प्रत्येक मास में रोहिणी नक्षत्र के दिन माना जाता है (देखो जैनव्रतकथासंग्रह पृ. ३६)। ण–नु (देखो कोष)।

१९३. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधना कहलाती हैं। इस विषय का प्राकृत में अति प्राचीन ग्रंथ भगवती–आराधना है जिसका दिगम्बर समाज में बड़ा मान हैं। यहा उसी की टीका करने का उपदेश जान पड़ता है।

१९७. चंदकंति से चन्द्रकान्त मणि का तात्पर्य लिया गया है जो चंद्र की किरणों के संयोग से द्रवित होता है। यदि हम दूसरी पंक्ति को ऐसी पढें '**चंद्रकंति चंदहं मिलिय पाणियदिण्ण ण ठाइ**' तो इसका अर्थ यों कर सकते हैं, 'जब चंद्रकान्ति चन्द्र (पूर्णिमाचन्द्र) से मिलती है तब पानी का दैन्य (दीनता) नही ठहर सकता'। पूर्णिमा चन्द्र के उदय से समुद्र में ज्वारभाटा आता है यह प्रसिद्ध ही है।

२०५. प्रथम पंक्ति का भावार्थ कुछ अस्पष्ट है। भ. प्रति की टीका का अर्थ ठीक नहीं जँचता '**हे जीव, यदि त्यागं कर्तुमिच्छसि तर्हि जीवपुद्गलयोः येन सुखं प्राप्यते तत्यागं श्रेष्ठं कथितं। तस्य इदमेव लम्यक्तं कथं न जातम्**'।

२१२. इस दोहे में कमलाकार सिद्धचक्र बनाकर उसकी पूजा करने का उपदेश है। सिद्धचक्र को बनाने का पूर्ण विवरण देवसेनकृत भावसंग्रह की ४४३ से ४६८ गाथाओं में है। इनमें की दो गाथायें ये हैं—

सोलदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह बिंदुकलसहियं।
थंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायबीएण ॥ ४४४ ॥

सोलससरेहिं वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि ॥
अट्ठहिं दलेहिं सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥ ४४५ ॥

(वसुनन्दी श्रावकाचार की ४७० आदि गाथायें भी देखिये)।

२१४. ये पांच वर्ण क्रम से अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के द्योतक हैं। यह जपमंत्र है।

२१५ यह सप्ताक्षर (यथार्थतः सप्तमात्रिक) मंत्र कहलाता है। उसमें दो वर्ण दीर्घ होने से कुल सात मात्रायें हैं।

२२० '**पट्टोलयतग्गंथियहं**' का ठीक अर्थ समझ में नहीं आया। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में अनुवाद में वह अर्थ दे दिया है।

पट्टोलय–पट्ट+उल्लोच (वितान). जिसे हिन्दी में कपडे का छत कहते हैं। कमरे में इस छत को तानने के लिये जगह जगह उसके किनारों पर एक पत्थर का टुकडा देकर गांठ दे देते हैं। इस तुच्छ कार्य के लिये जो एक बड़े बहुमूल्य रत्न के टुकडे करे उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा? आप्टे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में पटोल का अर्थ भी एक प्रकारका वस्त्र (a kind of cloth) दिया है। शुक्ति अर्थात् सीप जिसमें से मोती निकलता है, को भी संस्कृत में पटोलक कहते हैं। भ प्रति में अन्त के सात दोहों की टीका नहीं है।

२२२ द्वितीय पंक्ति में श्लेष है। जैसे दोहनेवालों को धेनु उत्तम दूध देती है उसी प्रकार यह उत्तम दोहों की धर्मधेनु (पढने वालों को) उत्तम पद देगी। **धर्मधेनुः संदोहकेभ्यः संदोहकानाम् वा, वरपयः वरपदं वा ददाति न भ्रान्तिः।**

दोहों की वर्णानुक्रमाणिका



शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व अनुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पनी में बतलाये गये हैं। यहां केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

दोहा नं.	अशुद्ध.	शुद्ध.
९	मणुसजम्मु	माणुसजम्मु
६६	पलिउ	पालिउ
६७	पिडिउ	पडिउ
६८	उप्पज्जइं	उप्पज्जइ
१०७	घम्मु	धम्मु
११५	णिट्ठुणी	णिट्ठुडी
१३२	मिल्लही	मिल्लहि

कारंजा से दो ग्रन्थमालाएं प्रकाशित हो रही हैं

जिनमें निम्न लिखित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं–

जसहरचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)
सावयधम्मदोहा	८॥)
णायकुमारचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)

निम्न लिखित अपभ्रंश ग्रन्थ शीघ्र ही क्रमशः प्रकाशित होने वाले हैं–

करकंडचरिउ – कनकामरमुनि कृत.
पाहुड दोहा
सुदंसणचरिउ – नयनन्दि कृत
अपभ्रंशकथासंग्रह
पासचरिउ – पद्मनन्दि कृत
जम्बूसामि चरिउ – वीर कृत
महापुराण – पुष्पदन्त कृत
कथाकोष – श्रीचन्द्र कृत
पउमचरिउ – स्वयंभू कृत
हरिवंशपुराण – ,,

मिलनेका पता–**मोतीलाल बनारसीदास,**
पंजाब संस्कृत बुकडिपो, लाहोर.

Printed from type by T M. Patil at the 'Saraswati Power Press,' Amraoti

AND

Published by Seth Gopal Ambadas Chaware, Karanja Berar (India).